सिद्धयोग

संस्थापक

योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का
प्रतिपादक मासिक

वर्ष–40 : अंक–7
अक्टूबर 2007

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत-कण

नैव स्त्री न पुमानेष न नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन स युज्यते।।

(श्वे. 5/10)

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्म में पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह है कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीर को लेकर हैं, जीवात्मा सर्वभेद शून्य है, सारी उपाधियों से रहित।

◆ ◆ ◆

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः।।

(किष्किन्धा. 64/9)

अर्थात् मन को विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषाद में बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोध में भरा हुआ साँप बालक को काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुष का नाश कर डालता है।

◆ ◆ ◆

द्विषत परकाये मां मानिनोभिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।।

(श्रीमद्भागवत 3/29/23)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति वैर बाँध रखा है, अतएव जो दूसरे के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष रखता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिलती।

◆ ◆ ◆

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

(ईशोपनिषद् 11)

अर्थात् जो विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तरकर ज्ञान से अमरता को प्राप्त कर लेता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 40
अंक : 7

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तस्मात्प्रार्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणं भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अक्टूबर
2007

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाव सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात्

भक्तिहीन साधना में संलग्न रहने वाले कुयोगी लोगों के लिए जिनकी छवि भी दूर है, जो अपनी निरुपम और निरतिशय आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप ब्रजधाम में निरन्तर विहार करते रहते हैं, उन भक्तवत्सल सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण को मेरा बार-बार नमस्कार है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 9
3. मांस का वास्तविक अर्थ – श्री जनक कुलश्रेष्ठ 12
4. हे अनन्त सत्‌विभूति – श्री वेदव्रत द्विवेदी 15
5. आज की परिस्थितियों में लोकसंग्रह – डॉ. जे.एन. राय 16
6. मंत्रों का लय में गाना जीवन बदल सकता है – श्री विश्वकेतु सिंह पुण्डीर 18
7. क्रिया योग का प्रथम अंग : तप – श्री रामेश्वर खण्डेलवाल 20
8. गुरुचरणों में जिसकी उमंग है – श्री जगदीशराय बंसल 22
9. योगसाधना हेतु उचित शारीरिक स्थिति : आसन – डॉ. राजकुमारी त्रिखा 23
10. दुखों की गुलामी कब तक? – श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव 27
11. गुरुभक्ति एवं परोपकार – श्री अंशुमान देव मालवीय 29
12. भवरोग मुक्ति का उपाय : तत्वज्ञान – आचार्य (डॉ.) उमाकांत 31
13. देखूं जिधर – श्री आर.बी. श्रीवास्तव 33
14. महाप्रभुजी ने मेरी सुनी... – श्री सुधीर कुमार कुलश्रेष्ठ 34
15. प्रकृति का उपहार – सुश्री निर्मला चन्देल 35
16. योगमार्ग के विघ्न – श्री कमलकान्त द्विवेदी 36
17. योग की प्राचीनता – श्री विधुशेखर 40

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 120.00
द्विवार्षिक	: रु. 210.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

• विशेष लेख

वैराग्य की साधना

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वैराग्य बिल्कुल मोक्ष का स्वरूप ही है। क्योंकि वह वैराग्य पुरुष ख्याति वैराग्य रूप है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर प्रत्युदित ख्याति योगी अपने आप को कृतार्थ बना लेता है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है और आत्मा विशुद्ध केवली भाव को प्राप्त हो जाया करता है। उस समय प्रत्युदित ख्याति योगी विवेक ज्ञान रूप अपने धारणा में दृढ़ हुआ इस प्रकार मानता है।

प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा, भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं, एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

अर्थात् प्राप्त करने लायक वस्तु प्राप्त कर ली, क्लेश क्षीण कर दिये, पोरी से पोरी की तरह जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया। जिसके कारण जन्म और मरण होता था। अब मैं नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वभाव अजर अमर नित्य तत्व हूँ। इस प्रकार परवैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद् गीता में मन की चंचलता को स्वीकार करके अभ्यास और वैराग्य को मन की एकता एकाग्रता का परम साधन माना है। गीता का वह प्रकरण इस प्रकार है। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न किया –

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्जुन ने कहा – हे मधुसूदन ! साम्यत्वेन जो योग आपने कहा है, वह सर्वथा ठीक है। चंचलता से इस मन की स्थिरता मैं बिल्कुल नहीं देखता हूँ। हे कृष्ण यह मन बहुत ही चंचल, बलवान एवं मथल डालने वाला है। जिस प्रकार वायु को रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार इस मन को भी पकड़ा नहीं जाता। अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।

हे महाबाहु अर्जुन ! यह बात बिल्कुल सत्य है कि मन बहुत ही कठिनता से वश में आने वाला और बहुत ही चंचल है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयतात्मा हैं हे अर्जुन मेरा विचार है कि उनको योग कभी प्राप्त नहीं हो सकता और जिन्होंने अपने आप पर नियंत्रण किया है वह प्रयत्न करते हुए अवश्य ही उपाय से प्राप्त कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त को कठोपनिषद् में उपदेश करते हुए यमदेव ने इस प्रकार कहा है –

यस्त्व विज्ञानवान्, भवत्य युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्य वश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।

अर्थात् जो मनुष्य अविज्ञानवान होता है अर्थात् जिसको मन पर नियन्त्रण नहीं होता उस व्यक्ति की इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं, जिस प्रकार बिगड़े घोड़े सारथी के वश में नहीं हुआ करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानवान है और युक्त मन वाला है, उसकी इन्द्रियाँ वश में हुआ करती हैं, जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वश में हुआ करते हैं।

अतः उपरोक्त लेख से यह तो भली प्रकार सिद्ध हो गया कि अभ्यास परायण योगी अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण प्राप्त करके अपनी प्रगति को ऊँचा बढ़ा सकता है और प्रेम से परम श्रेयभागी बन भी सकता है। कदाचित् भाग्यवश मनुष्य पर वैराग्य को प्राप्त हो जाये तो गुणधर्मों से छूट कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो ही जाया करता है। क्योंकि वैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक माना गया है। हमारे शास्त्रों में जहाँ अभ्यास के भिन्न-भिन्न प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार से सांकेतिक भाषा में वैराग्य का महत्वपूर्ण वर्णन भी मिलता है। वह इस प्रकार के छिपे हुए भाव हैं कि जिनको सहसा मनुष्य समझ भी नहीं सकता। वैराग्य शब्द का अर्थ है विगत राग हो जाना। ज्यों-ज्यों इन्द्रियाँ अपने विषयों में राग परायण होती हैं त्यों-त्यों वे सब अपने विषयों को छोड़ने में असमर्थ हो जाया करती हैं। इस विषय में हमारे पूर्व आचार्यों का इतिहास और स्मृति के रचियताओं का बिल्कुल एकमत है। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति में बिल्कुल साफ और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है –

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्व पहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठे विद्वान यन्तेव वाजिनाम्।।
इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोष मृच्छत्य संशयम्।
सनियम्य तु तान्येव तत्त सिद्धिं नियच्छति।।
न जातु कामः कामानामुपभोगेन् शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्ट भावस्य सिद्धिं गच्छति कर्हिचित्।।
वशे कृत्वेन्द्रिय ग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम्।।
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वाचयो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि चित्त का अपहरण करने वाली इन्द्रियों को इस प्रकार वश में रखे जिस प्रकार सुसारथी घोड़ों को रखा करता है। क्योंकि इन्द्रियों का अनुगामी होने से हजारों प्रकार के दोष पैदा हो जाया करते है और उनको संयम में ले आने पर जल्दी ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। उत्पन्न हुई कामनायें, कामनाओं के उपभोग से कभी भी शान्ति को प्राप्त नही होती, प्रत्युत और अधिक बढ़ती चली जाती है, जैसे अग्नि में घृत आदि हवि डालने से अग्नि और अधिकाधिक प्रज्जवलित होती जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों का उपयोग करने पर उनका लौल्य दिनप्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है। क्योंकि कभी भी अजितेन्द्रिय मनुष्य को वेद, त्याग, यज्ञ नियम और तप सिद्ध नही हुआ करते। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह सारी इन्द्रियों के समूह और मन पर नियन्त्रण करके और योग के द्वारा अपने शरीर की रक्षा करते हुए कामनाओं को प्राप्त करे। जो मनुष्य सुन करके, स्पर्श करके, देख करके, भोग करके और गन्ध ग्रहण करके न प्रसन्न होता है, न ग्लानि को प्राप्त होता है, उसको जितेन्द्रिय समझना चाहिये। इन सब शास्त्रीय सिद्धान्तों को पढ़कर और सुनकर मनुष्य एक ही निश्चय पर पहुँचता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों में राग होना ही वासनिक प्रवृत्ति का मुख्य कारण है। यदि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विगतराग हो जायें तो उनकी प्रवृत्ति कभी भी उनमें हो ही नही सकती। इस विषय को इस प्रकार समझ लीजिये- जैसे हमारी चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति सुन्दर रुप देखने में रागान्वित होती है तो वह हमारे को सुन्दर रुप की ओर आकृष्ट कर देती है। यदि उसी चक्षु इन्द्रिय के सामने किसी मल मूत्रादि घृणित दृश्य को लाया जाये तो वह उसको कभी भी देखना पसन्द नही करेगी। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय कभी भी उसका गन्ध ग्रहण करना, स्पर्श करना नही चाहेगी। क्योंकि वह उनमें विगतस्पृह है। अतः कदाचित् किसी भाग्यवान साधक को वैराग्य प्राप्त हो जायें तो उसका उसकी इन्द्रियों पर स्वतः ही नियन्त्रण हो जाया करता है। हम सबको चाहिये कि हम जहाँ जिस-जिस अभ्यास में प्रयत्नशील रहते है, वहाँ उसी प्रकार वैराग्य के लिए भी प्रयत्नशील रहें।

वैराग्य साधना का अमर उपाय

वैसे तो वैराग्य साधन के लिए हमारे शास्त्रों में अनेकानेक उपाय वर्णित है, किन्तु वह प्रायः साधकों के लिए विफल रहते है। उसका कारण मात्र यह है कि अधिकांश में सभी उपदेष्टा मनोनियंत्रण का उपदेश दिया करते हैं। नियंत्रण करना ठीक है किन्तु कभी-कभी उस

नियन्त्रण का ऐसा परिणाम रहता है कि इन्द्रियों का वेग बलवान हो जाता है और वह नियन्त्रण की मर्यादा को तोड़ करके अपनी वासना के लक्षीभूत विषयों में बह निकलता है। इस बात को स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है–

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

अर्थात् विद्वान लोग इन्द्रियों के नियंत्रण का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी इन्द्रियों का वेग इतना बलवान है कि वह बहुत जल्दी मन को हर लेता है। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि जिस प्रकार तीव्र वेग वाली नदी के जल को बाँध लगाकर किसी जलाशय में रोक लेते हैं तो वह जल रुक तो जाता है और उस जलाशय के अन्दर इकट्ठा होता रहता है, किन्तु जब वह जलाशय जल से परिपूरित हो जाता है और जल के वेग से कदाचित् बँधा हुआ बाँध टूट जाये तो उस जल को रोकने की ताकत किसी में नहीं होती। टूटा हुआ वह बाँध हजारों गाँवों और शहरों को नष्ट करता हुआ समुद्र की ओर भाग निकलता है। समुद्र में पहुँच कर ही वह विलय हो पाता है। इससे अच्छा उपाय यही था कि इस जल को इतने बड़े बाँध से रोकने की चेष्टा नहीं की जाती प्रत्युत जहाँ–जहाँ जिन क्षेत्रों में जल की भारी आवश्यकता थी उन–उन क्षेत्रों में उचित सविधान के साथ बाँट दिया जाता तो उस जल का वेग शान्त हो जाता। और कृषि आदि कार्यों के सहयोग से भारी लाभ होता। इसी प्रकार से इन्द्रियों के वेग को बिना लक्ष्य के किसी प्रकार मनुष्य रोक दे तो जब तक वह वेग रुका रहेगा ठीक है– कदाचित् वह नियंत्रण की मर्यादाओं को तोड़कर वह निकला तो वह इतना बह जायेगा कि उस पर फिर नियन्त्रण करना काबू से बाहर हो जायेगा। इसीलिए योगाभ्यासी को चाहिये कि वह अपने अभ्यास बल से उस प्रवाह को अन्तर्भूमिकाओं में परिवर्तित करता रहे। जिससे इन्द्रिय–ग्राम इतना सबल हो ही न पाये जिससे ऊँचे नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव में आये। इसी का निर्देश हमारे आचार्यों ने किया है। कठोपनिषद् में भगवान यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

पराचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्परां पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है, इसलिए इनका वेग बाहर की ओर चलता रहता है। बाहर के जितने विषय हैं वह विषयों का मोटा रूप है, जैसे गन्ध तन्मात्र का स्थूल रूप जल है, रूप तन्मात्र का स्थूल रूप अग्नि है, स्पर्श तन्मात्र का स्थूल रूप वायु है और शब्द तन्मात्र का स्थूल रूप आकाश है। हमारी इन्द्रियां पंच तन्मात्राओं के स्थूल रूप का ही दर्शन करती हैं, न कि सूक्ष्म का। यदि ये पंचभौतिक स्थूल भोग को छोड़कर सूक्ष्म तन्मात्राओं का दर्शन व अनुभव करने लग जायें तो थोड़े ही दिन के बाद ये सब इन्द्रियां स्थूल विषयों में विगतराग हो जायेंगी। इसलिये हमारे योगाचार्यों ने सम्प्रज्ञात,

असम्प्रज्ञात नाम के दो योगों का वर्णन किया है। जो लोग सम्प्रज्ञात योग में प्रवेश कर जाते हैं उनकी इन्द्रियां सूक्ष्म तत्वों को अनुभव करने लग जाया करती हैं और ज्यों–ज्यों सूक्ष्म तत्वों का अनुभव करती हैं त्यों–त्यों उनके स्थूला भोग छूटते चले जाते हैं। इस अभ्यास के क्रमानुसार ज्यों–ज्यों योगाभ्यासी योगी उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाओं में प्रवेश करता है त्यों–त्यों निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में वह योगी विगतस्पृत हो जाता है। उत्तरोत्तर उन निम्न श्रेणियों से वह विगतस्पृह हो जाया करता है। उसका राग उच्च भूमिकाओं में बँट जाता है। इस तरह से योगी अपने चित्त के प्रभाव को, जो अभी स्थूल जगत की ओर तीव्रता से प्रवाहित हो रहा था उसको सूक्ष्म जगत की ओर प्रवाहित कर लेता है। प्रवाह चलता रहता है, चित्त की अपनी ताकत का सदुपयोग होता रहता है। इस प्रकार का यह चित्त उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ हमारे परम कल्याण का कारण बन जाता है। कदाचित् हम अपने चित्त को कहीं भी प्रवाहित न करें तो कभी भी इकट्ठी की हुई वह हमारी चित्त शक्ति प्रस्फुटित हो सकती है और इस प्रकार की बिखरी हुई चित्त शक्ति परिणाम में दुःखद रहेगी। इसलिए योगी को चाहिये कि वह निम्न श्रेणी की भूमिकाओं से अपने आप को उत्तम भूमिकाओं की ओर बढ़ाता चला जाये। जिससे स्वतः ही उसका मन निम्न श्रेणी से विगतराग हो जाये। भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग सूत्र में –

वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

इस सूत्र पर व्यासदेव ने अपने भाष्य में ये पंक्तियां लिखी हैं –

वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः आनन्दोः ह्लादः। एकात्मिका। संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत समाधिः स वितर्कः, द्वितीयो वितर्क विकलः सविचारः। तृतीयो विचार विकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति, सर्व एते सालम्बनाः समाधय।

वितर्क विचार आनन्दानुगत समाधि सावलम्ब है। जिस समय योगी का अपने सार्वदेशिक मन को एकाग्र करके सम्प्रज्ञात योग की ओर बढ़ना आरम्भ हो जाता है ज्यों–ज्यों ऊपर की भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है त्यों–त्यों नीचे की भूमिकाओं को छोड़ता चला जाता है। जिस प्रकार से गाँव का रहने वाला एक व्यक्ति गाँव के वातावरण को छोड़कर शहर में प्रवेश करता है तो वह ग्रामीण वातावरण को भूल जाता है और उसे फिर नागरिक जीवन ही पसन्द आ जाता है। इसी प्रकार बाह्य वासना दोषदर्शी व्यक्ति अन्तर्मुखता को प्राप्त करके बाह्य वासनिक भोगों को बिल्कुल छोड़ देता है। सम्प्रज्ञात योग की प्रथम श्रेणी में प्रवेश करने वाला साधक सार्वभौम चित्त को इकट्ठा करके अपने भीतर के दर्शन में लगाता है। वह सार्वभौम से निवृत्त होकर वितर्कानुगत योग में प्रवेश करता है। वितर्कानुगत योग में उसको तन्मात्राओं से सम्बन्ध रखने वाले बड़े–बड़े दिव्य अनुभव होने लग जाते हैं और उन सब दृश्यों को देखता हुआ वह योगी शनैः शनैः विचारानुगत योग का अधिकारी हो जाता है और उसके सामने देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। विचारानुगत समाधि में ये सब दृश्य उसके सामने आने लगते

है और वह स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है तो मनुष्य लोक के दृश्यों से उसको वैराग्य हो जाता है। विचारानुगत समाधि से जिस समय आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो उसे स्वर्गीय दृश्यों से भी स्वाभाविकीय उपरति होने लगती है और शनैः शनैः स्वर्गीय दृश्यों से भी उसको वैराग्य हो जाता है। इसी प्रकार से आनन्दानुगत समाधि का योगी अस्मितानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो आनन्दानुगत के विषय को छोड़कर अस्मित प्रत्यय को आधार बनाकर उसी में विलीन रहता है। इस श्रेणी में आकर वह दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण होकर वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त करता है और इससे आगे आत्मा का निजी स्वरूप है। जिसके लिए महर्षि पतजलि ने **'तदादृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्'** कह करके अभिव्यक्त किया है। अस्मितानुगत योग की अस्मिवृत्ति निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहलाती है। वह वृत्ति अन्य सभी वृत्तियों का उपशमन करके स्वयं भी शान्त हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में आत्मा कैवली भाव को प्राप्त हो जाता है। यही पर वैराग्य की स्थिति है। इसी को महर्षि पतजलि ने **'तत्परम् पुरुष ख्यातर्गुण वैतृष्ण्यम्'** कहकर अभिव्यक्त किया है। इसी वैराग्य को मोक्ष का नान्तरीयक वर्णन किया गया है। यही परा स्थिति है, जिसके लिए मनुष्य जीवन भर प्रयत्नशील रहा करता है। किसी भाग्यवान जीव को जन्म में ही विरक्ति की भावनायें पैदा हो जाती हैं। वह उसका पूर्व जन्मकृत अभ्यास ही होता है। संसार में इस प्रकार के व्यक्ति ही कम देखने में आते हैं जिनके अन्दर जन्म से ही गुण वितृष्णता हो। किन्तु जो लोग श्रीगुरुदेवजी की कृपा को प्राप्त करके सम्प्रज्ञात योग के अभ्यासी बने रहते हैं वे लोग शनैः शनैः गुण वैतृष्णता को अवश्य ही पा जाया करते हैं। अतः हर साधक को यह चाहिये कि वह अपने आप को गुण वितृष्ण बनाने के लिए सम्प्रज्ञात योग का विद्यार्थी बनाये, तभी वह साधक 'तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' को प्राप्त हो सकेगा।

❑❑❑

हम किसी भी साधना को पूर्ण करना चाहते हैं तो उसमें तीन बातों का ख्याल रखना निहायत आवश्यक हो जाता है। जिस भी साधना को हम करें उसको लम्बे समय तक करें। यह न हो कि सकाम उपासना वालों की तरह से फल की लिप्सा में लगा हुआ साधक जल्दी कोई परिणाम न दिखाई देने पर साधना को छोड़ बैठे। इस प्रकार करने से वह कभी भी परिणाम की सीमा को नहीं पहुँच सकेगा। इसलिए साधक का पहला कर्तव्य है कि वह जिस भी साधना को करे लम्बे समय तक करे और लगातार करे। ऐसा न हो कि एक दिन कर ली दो दिन छोड़ दी। फिर एक दिन कर ली दो दिन छोड़ दी। प्रत्युत निरन्तर करता ही रहे। तीसरी बात उसको अपनी साधना में पूरा-पूरा विश्वास हो।

– गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

परमपूज्य गुरुदेव

योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

पूज्य गुरुदेवजी का पावन प्राकट्य दिवस

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में योग–नभ में एक ऐसे नक्षत्र का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने जीवन के 5–6 दशकों तक विद्यमान रहते हुए योग का अमर संदेश देकर योग जिज्ञासुओं व आध्यात्म पिपासुओं को उपकृत किया। आप जैसे महायोगी जगत के कल्याण के लिए स्वेच्छा से शरीर धारण करते हैं। आपने लाखों योग साधकों को सिद्धयोग परम्परा में दीक्षित कर इस परम्परा को जीवंत रखा है तथा शक्तिपात के द्वारा अपने शिष्यों की प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करके उनकी आध्यात्म चेतना को उच्च शिखर तक पहुँचाया है। आपके गुरुदेव योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज हैं। जो योग की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। योग की अतुलित शक्तियाँ जिनके रोम–रोम में बसती हैं, ऐसे अमर व सर्वसमर्थ प्रभु दृष्टिपात से ही साधकों को सिद्धयोगी बना देते हैं। सद्गुरुदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज इनके ही प्रधान शिष्यों में से एक हैं, जिनका नाम योगी समाज में अत्यन्त आदर से लिया जाता है। आपका जन्म सन् 1909 ईस्वी में हरियाणा के पानीपत जनपद में अलूपुर नामक छोटे से गाँव में प. देवीराम जी के घर हुआ था। पण्डितजी बहुत ही पुण्यात्मा व धार्मिक व्यक्ति थे तथा आर्यसमाज के बड़े ही कुशल प्रचारक थे। आपका अधिकांश समय दक्षिण भारत के हैदराबाद आदि स्थानों पर प्रचार कार्य में ही बीतता था। इन्हें ही पुत्ररूप में अपने गुरुदेव प्राप्त हुए। आप एक अवतारी पुरुष हैं। शैशवावस्था में ही भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी का साक्षात्कार इन्हें हर समय बना रहता था। नाना प्रकार की क्रीड़ायें करते रहते थे। उठते–बैठते, चलते–फिरते भगवान से वार्तालाप व हास्य आदि करते रहते थे। यद्यपि आपके पिताश्री व चाचाजी पूर्णत: आर्यसमाजी विचारधारा के थे, किन्तु आप पर आर्यसमाजी विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा पूरी कराने के पश्चात् आपके पिताश्री ने संस्कृत की उच्च शिक्षा दिलाने के विचार से इन्हें लाहौर में दयानन्द ब्रह्म संस्कृत महाविद्यालय में आचार्य पद्मभूषण श्री विश्वबन्धु जी के विद्यालय में प्रवेश दिलाया। तीन–चार वर्ष के अल्पकालिक अध्ययन से ही आपको धाराप्रवाह संस्कृत में सम्भाषण करने की योग्यता 15–16 वर्ष की अवस्था में ही आ गयी थी। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी के दृढ़तर संस्कार आपको वहाँ से श्रीवृन्दावन धाम की ओर खींच लाए, जिसके फलस्वरूप आप और अधिक दिन तक विद्यालय नहीं रुक पाये। विद्यालय छोड़कर आप श्रीवृन्दावनधाम में भगवान के दिव्य लीलास्थलों के दर्शन करने लगे। कुछ दिन के पश्चात् इनके चाचा पण्डित शिवनरायन जी इन्हें वापस जन्मभूमि ले आये। अध्ययन के लिए फिर आप अमृतसर रहने लगे। इन्हीं दिनों निकट के एक गाँव के शिवालय में तीव्रतर अनुष्ठान आपने किया। स्वप्न में आपको अपने गुरुदेव योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के दर्शन हुए। वे लोगों को एक कुँए पर पानी पिला रहे थे। इन्हें उन्होंने प्यासे लोगों को

पानी पिलाने की आज्ञा दी। स्वप्न में ही इन्होंने लोगों को खूब पानी पिलाया। पानी पिलाने का अभिप्राय योग पिपासुओं को योगामृत का पान कराने से था। कुछ ही दिनों में आप को श्री प्रभुजी के ऋषिकेश निवास का पता मिल गया। आप ऋषिकेश में श्री योगसाधन आश्रम पहुँच गये और श्री प्रभुजी के दर्शन प्राप्त किये। आपने श्री प्रभुजी से योग दीक्षा प्राप्त की। यह सन् 1927 से 1928 की बात है। योगदीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आप श्रीप्रभुजी से आज्ञा पाकर पुनः श्री वृन्दावन धाम आ गये। श्री प्रभुजी ने उस समय नियमित रूप से प्रातः 5 से 7 बजे तक ध्यानाभ्यास में बैठने की आज्ञा दी। इसी नियमित अभ्यास के दिनों में ही आप कृतकृत्य हो गये। महावाक्यों का अर्थ प्रकाशित हो गया। समाधि में परमतत्व का साक्षात्कार हो गया। आपने योग की समस्त विभूतियों को प्राप्त कर लिया। आप अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित रहने लगे। कुछ दिन पश्चात पुनः श्री प्रभुजी के दर्शनों के लिए आप ऋषिकेश आश्रम में आ गये। वहाँ श्री प्रभुजी ने इन्हें योग जिज्ञासुओं को दीक्षा देने की आज्ञा दे दी। सर्वप्रथम आपने अस्सी वर्षीय एक आर्य सन्यासी को दीक्षा दी। वह सन्यासी ब्रह्मचारी भीष्म के नाम से जाने जाते थे और घरौण्डा करनाल में गुरुकुल चलाते थे।

सन् 1938 में श्री प्रभुजी के लीलावसान के पश्चात् आप पुनः ब्रजक्षेत्र में ही रहने लगे। आपको श्री सिद्धगुफा के दर्शनों की तीव्र लालसा हो गयी। पूछते-पूछते बरहन होते हुए आप श्री सिद्धगुफा पहुँच गये, तभी से यहाँ आने का तारतम्य जुड़ गया। आपने इसी पावन स्थल को अपने योग प्रचार का केन्द्र बना लेने का निश्चय कर लिया। सन् 1942 के बाद आप स्थायी रूप से यहीं रहने लगे। यहाँ रहकर आप योगासन, प्राणायाम तथा जीवन तत्व साधन एवं नेति आदि क्रियाओं से व्यक्तियों की बीमारियों का निःशुल्क उपचार करने लगे। आने वाले सभी व्यक्तियों को पूरा लाभ मिलता था। चारों ओर आपकी ख्याति फैल गयी। अधिकारी व्यक्तियों को योग दीक्षा देकर ध्यान योग में प्रवेश करा दिया। तीव्र शक्तिपात के फलस्वरूप साधकों का अन्तर्जगत में प्रवेश हो जाता था। साधक-साधिकायें कई-कई घण्टों तक ध्यानावस्थित बैठे रहते थे।

सन् 1950 से इनका योग प्रचार कार्यक्रम बहुत विस्तार पा गया। उत्तर भारत के गाँव-गाँव, शहर-शहर से लोगों ने गुरुदेव का कार्यक्रम माँगना शुरू कर दिया। योग प्रचार कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रातःकाल योगासन व क्रियाओं से चिकित्सा कार्य, गीतापाठ व प्रवचन तथा सायंकाल श्री प्रभुजी की लीला चरित्र का गुणगान तथा रात्रि में योग सिद्धान्तों पर प्रवचन होता था। गुरुदेव की इच्छा थी कि उनका हर साधक बच्चा योग के सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ ले और इन्हें अपने जीवन में उतार ले, जिससे कल्याण के मूलस्रोत को पा जाये। कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में अखिल भारतीय योग सम्मेलन का आयोजन रखा गया जिसकी अध्यक्षता आपने की। इन सम्मेलनों में महर्षि महेश योगी जैसे लब्धप्रतिष्ठित योगी भी सम्मिलित होते थे। दिल्ली में कई बार अखिल भारतीय तथा विश्व योग सम्मेलनों का आयोजन हुआ जिसमें गुरुदेव की महनीय भूमिका रहती थी। सन् 1986 में दिल्ली में ही विश्व

योग सम्मेलन का आयोजन हुआ। गुरुदेव इस सम्मेलन में अध्यक्ष पद पर सुशोभित थे। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने इन्हें योग शिरोमणि की उपाधि से अलंकृत किया। आपके देदीप्यमान मुखमण्डल तथा ओजस्वी भाषण आपके पूर्ण योगीराज होने का परिचय स्वयं दे रहे थे।

समाधि के भेद तथा प्रकार का अनुभूतिपूर्ण विषद् वर्णन करने वाले योगी विरले ही होते हैं। सद्गुरु की शास्त्रों में अनन्त महिमा गायी गयी है। कबीर जैसे निर्गुण ब्रह्मवादी सन्त भी सद्गुरु महिमा का मुक्तकण्ठ से गान करते हैं, वे लिखते हैं–

कबीर सद्गुरु तो ऐसा मिला जासों रहिया लाग।
सब जग तो शीतल भया मिटी आपनी आग।।

वस्तुतः सद्गुरु के मिल जाने पर जीवन का सारा क्लेश नष्ट हो जाता है। सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। सद्गुरु की प्राप्ति हो जाने पर जो शिष्य गुरु की आज्ञा को नहीं मानता वह तो शूकर की तरह उघारे गात गन्दी नालियों के ढेर में पड़ा रहता है। किन्तु जो आज्ञा पालन करते हैं उन्हें संसार की सारी वस्तुयें मिल जाती हैं। इस विषय में सन्त तुकारामजी कहते हैं – **"यदि हमें गुरु चरणों में श्रद्धा है, गुरु चरणों में गहरी भावना है, यदि तुम गुरु की स्थिति को आत्मसात् कर सकते हो तो फिर तुम्हें गुरु को ढूँढने की आवश्यकता नहीं। प्रभु तुम्हें ढूँढता फिरेगा, अतः गुरु का ध्यान करो।"** गुरु की कृपा से ही शिष्य को दिव्य दृष्टि मिलती है जिससे उसे सद्–असद् का ज्ञान होता है। सिद्ध गुरु की शिष्य पर जन्म–जन्मान्तर तक दृष्टि बनी रहती है। मुक्ति प्रयत्न के सन्मार्ग दिखाते रहते हैं। वस्तुतः गुरुदेव ही शिष्य के चित्त की अज्ञानग्रन्थि का भेदन करते हैं जिससे मनुष्य जन्म–मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। हमारे गुरुदेव अपने हर बच्चे को अपना आत्मतेजांश कहकर पुकारा करते थे। योग के अमर सिद्धान्तों को अपने हर बच्चे तक पहुँचाने के उद्देश्य से आपने सन् 1968 में सिद्धयोग नामक पत्रिका को प्रकाशित कराया जो आज भी अबाध गति से चल रही है। आज इसको चालीस वर्ष पूरा होने को आ रहा है।

सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का पावन प्राकट्य (जन्म) दिवस आश्विन शुक्ल दशमी को प्रतिवर्ष सभी आश्रमों में हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। गुरुदेव की जन्मभूमि अलीपुर में तो मनाया ही जाता है। इसके अतिरिक्त श्री सिद्धगुफा सवाई तथा अन्य शाखाओं में इस वर्ष 21 अक्टूबर को धूमधाम से मनाया जा रहा है। इस पावन पर्व पर गुरुदेव के परम पावन चरणों में कोटि–कोटि नमन है।

□□□

मांस का वास्तविक अर्थ

– जनक कुलश्रेष्ठ (ग्वालियर)

(कतिपय नासमझ अथवा अधकचरे ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को मैंने यह कहते हुए सुना है कि हमारे प्राचीन ऋषि–मुनि माँसभक्षी थे। इस प्रकार के वचन मैंने एक बार यात्रा करते समय सुने जिनको एक व्यक्ति अपने साथी से कह रहा था। वह तर्क दे रहा था कि राजा प्रतापभानु के यहाँ ब्राह्मणों ने भोजन इसलिए नहीं किया था, क्योंकि उस भोजन में ब्राह्मणों का मांस मिलाया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि ऋषि–मुनि मांस भक्षी तो अवश्य थे, परन्तु मानव मांस भक्षी नहीं थे। उसी समय से मेरे मन में इस तथ्य के जानने की इच्छा हुई और प्रभुकृपा से जिस शास्त्र को मैं उठाकर उसके पन्ने पलटता तो अनायास ही वही पृष्ठ मुझे पढ़ने को मिलता जिसमें मांस का वास्तविक अर्थ हो। इस विभिन्न शास्त्रों से मांस के विभिन्न अर्थ पाये गये, जिनको मैंने संकलित कर पाठकों को अवगत कराने का प्रयत्न किया है। इस प्रयास में मेरी बुद्धि बिल्कुल नगण्य है।)

महाभारत अभिमन्यु बधपर्व 67 वां अध्याय श्लोक 14–15

सांस्कृते रन्तिदेवस्ययांरात्रिमवसत् गृहे, आलभ्यन्ताम् शतं गावः सहस्त्राणि च विंशति। तत्र स्म सूदा क्रोशन्ति सुमृष्टमणि कुण्डला: सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।।

गलत अर्थ –

सांकृत के पुत्र राजा रन्तिदेव ने अपने अतिथितियों को खिलाने के लिए बीस हजार एक सौ गायें मारी। उस दिन वहाँ कानों में मणि कुण्डल पहिने जो रसोइये थे, वे पुकार–पुकार कर कह रहे थे कि दाल अधिक है। इसी से खाइये, मांस नहीं रहा।

वास्तविक अर्थ –

लभ् धातु का संस्कृत में व्याकरण में 'प्राप्त करना' या 'स्पर्श करना' अर्थ होता है। उदाहरणार्थ श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के पंचम अध्याय के तेहरवें श्लोक में चमस ऋषि ने विदेह राज निमि से कहा था –

यद् घ्राण भक्षो विहित: सुरापारतया यज्ञोरालभनं न हिंसा

तात्पर्य यह है कि सौत्रामणि यज्ञ में भी सुरा को सूँघने का विधान है। पीने का नहीं। यज्ञ में पशु का आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं है। परन्तु जो लोग अर्थवाद के चक्कर में फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्ध धर्म को जानते ही नहीं हैं।

ये त्वनेवंविदोऽसन्त स्तब्धा सदाभिमानिनि: पशून् दुह्यन्ति विस्त्रब्धा: प्रेत्यखादन्ति होचतान। 11/15/14 श्रीमद्भागवत

अर्थात् जो इस विशुद्ध धर्म को नहीं मानते या जानते वे घमण्डी वास्तव में हैं तो दुष्ट, परन्तु समझते हैं अपने आपको श्रेष्ठ। वे धोखे में पड़े हुए लोग पशुओं की हिंसा करते हैं और मरने के बाद वे पशु ही उन मारने वालों को खाते हैं।

यजमानमालते कोऽसीति (कात्यायन सूत्र 19/41/19/21

अर्थात् **यजमानं स्पृशति अंगनिधालभते स्पृशति।**

इस प्रकार यजमान के अंगों को स्पर्श करने के अर्थ में आलभ शब्द का प्रयोग हुआ है संस्कार विधि में यह लिखा है कि वर–वधू के द्वारा एक–दूसरे के हृदय को आलभन (स्पर्श करने) का मंत्र पुरोहित पढ़कर क्रिया करता है। यहाँ आलभ का अर्थ स्पष्टतः स्पर्श करना है न कि मारना या काटना।

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि राजा रन्तिदेव के अतिथियों ने बीस लाख गायों का स्पर्श करके मांस अर्थात् दुग्धपान किया था। यहाँ मांस का अर्थ दुग्ध या सार भाग है। बाल्मीकि रामायण षट्पंचाश सर्ग 22 वाँ श्लोक –

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहेवयम:।

कर्तव्यं वास्तु शमनं सौमित्रो चिरजीविभि:।।

चित्रकूट में निवास करते हुए अपने लघु भ्राता श्री लक्ष्मण जी से ऐणेय का मांस लाने का आदेश दिया, जिससे वास्तु देवता का पूजन कर सकें। चित्रकूट में भगवान राम ने अपने निवास के लिए एक पर्णकुटी बनाई थी, जिसमें प्रवेश करने के पूर्व वास्तु देवता का पूजन करना आवश्यक था।

यहाँ ऐणेय का अर्थ गजकन्द है, जिसको ऋषि–मुनि खाया करते थे। और मांस का अर्थ उसका गूदा है। अर्थात् पूजन के लिए गजकंद का गूदा भोजन के लिए मंगाया था।

इसी प्रकार गोमांस का अर्थ वाममार्गियों ने गलत समझ करके समाज का बड़ा अनर्थ कर डाला है। और मांस शब्द के वास्तविक अर्थ को न समझने से समाज में गाय का मांस खाने की भ्रान्ति फैला दी है।

हठयोग प्रदीपिका 3/47 में लिखा है –

गोमांस भक्षयेन्नित्यम् पिबेद्नरवारुणीम्।

कुलीनतमहमन्ये इतरे कुलघातकम्।।

गलत अर्थ – जो प्रतिदिन गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी (मद्य) का पान करता है, मैं उसे कुलीन मानता हूँ। और शेष कुलघातक है।

वास्तविक अर्थ – समझदार व्यक्ति इसकी गहराई तक पहुँचकर योग की दृष्टि से ही देखेगा। योग में गोमांस भक्षण एक प्रक्रिया है, जिसका आशय आगे के श्लोक में दिया है –

हठयोग प्रदीपिका 3/48

गो शब्देनोदिता जिह्वातत्प्रवेशो हि तालुनि।

गोमांस भक्षण तन्तु महापातक नाशनम:।।

अर्थ – गो शब्द का अर्थ है जिह्वा का प्रवेश तालुस्थान में करना। इसको योग प्रणाली

में गोमांस भक्षण कहते हैं – अर्थात् खेचरी मुद्रा। ऐसा करने वाला व्यक्ति बड़े-बड़े पापों से बच जाता है। इसी प्रकार भ्रामरवारुणी मस्तिष्क से निकलने वाला एक विशेष प्रकार का रस होता है। इसी रस को योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा पान करके चिरजीवी हो जाता है, जैसे देवरहा बाबा।

हठयोग प्रदीपिका 3/49

जिह्वा प्रवेश संभूत वह्निनोत्पादितः खलु।

चन्द्रात्स्त्रवति यः सारः सास्यादमरवारुणी॥

अर्थ – दशम द्वार में जिह्वा के प्रवेश के कारण उत्पन्न हुई योगाग्नि की ऊष्मा से जो चन्द्र स्थित सार स्त्रावित होता है, वही अमर वारुणी है।

ध्यान रहे कि हठयोगी मत्स्येन्दनाथ एवं गोरखनाथ हठयोग के आदि प्रवर्तक थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/18

अथ इच्छेत्पुत्रो विगीतः समितिंगमः शुश्रुषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वानुवेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरिया दिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षमेण वा।

शब्दार्थ – जिसकी इच्छा हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात पण्डित, विद्वानों की सभा में निर्भय जाने वाला श्रवण सुखद वाणी को बोलने वाला हो। चारों वेदों को जानने वाला और पूर्ण आयु को प्राप्त हो, तो वह मांस और चावल पकाकर घी के साथ खावे। उक्ष या ऋषभ के साथ पकावे।

यहाँ 'मांसौदन' शब्द के साथ उक्षा तथा ऋषभ (बैल) शब्द भी है। इससे लोग अनुमान लगाते हैं कि बैल का मांस चावल के साथ खाना चाहिये। लेकिन उक्षा और ऋषभ दोनों ही शब्द बैल के पर्यायवाची शब्द हैं। एक ही शब्द पर्याय या फिर बैल के दो शब्द क्यों लिखे गयें – यह विचारणीय है। वास्तविक अर्थ – भावप्रकाश में लिखा है –

जीवकर्षभकौसेयौ हिमादि शिखरोद्भवौ

जीवकः कूर्चकारः ऋषभो वृषश्रृंगवत्॥

जीवकर्षभको बल्यौशीतौमुक कफप्रदौ।

अर्थात् हिमालय पर्वत पर ऋषभ वनस्पति होती है। यह बैल के सींग के समान आकार वाली होती है और बल तथा वीर्य बढ़ाने वाली होती है। उक्षा सोम औषधि का नाम है। सर विलियम ने अपने वृहत् संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इसे 'सोम' नामक पौधे का पर्याय माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ मांस का अर्थ औषधियों का गूदा है और उस गूदे को घी में मिलाकर खावे। औषधि अथवा फल के गूदे को मांस कहते हैं। उससे मिश्रित भात को 'मांसौदन' कहा है।

उस ऋषभ औषधि के गूदे का उक्षा के गूदे के साथ सेवन करने को कहते हैं और गर्भाधान में समर्थ सांड को उक्षा कहते हैं। उसी के समान शक्तिशाली होने से औषधि विशेष का नाम 'उक्षा' है।

हे अनन्त की सत्‌विभूति !

वेदव्रत द्विवेदी
उमापुर

हे अनन्त की सत्‌विभूति ! यह लो श्रद्धांजलि दान हमारा।
तुमको पाकर सफल हुआ कितने जन-जन का जीवन सारा।
हे योगेश्वर ! हे स्वामी ! नित्य शान्त हे अमर महातम्।
हमें दिखा अविनीश्वर पद को छोड़ गए अपना नश्वर तन।
आज तुम्हारे दर्शन करके हो पाया तुममय जिसका मन।
तुम्हें छोड़ अब कहां जायेगा उसके तुम्हीं एक प्रियतम धन।
कितनों ने ही सीखा मर कर जीने का मंत्र तुम्हारा।
जाने कितने मुरझाये मुख खिलते तुमको पाकर।
तुम परहित के लिए सदा ही रहे दौड़ते कष्ट उठाकर।
चमत्कार श्रद्धालुजनों ने देखा श्री चरणों में आकर।
जो कभी हो सका, वही हो गया, तुम्हारा ध्यान लगाकर।
शरण ले लिया उसको, जिसने कभी हृदय से पुकारा।
अपने सुख का ध्यान न रखकर तुमने पर उपकार किया।
तुमने सदा बिना कुछ चाहे प्राणि मात्र से प्यार किया।
हे इन्द्रियजित ! तुमने विधिवत् षड्‌रिपु का संहार किया।
तुमने ही अगणित दुखियों के मानस का उपचार किया।
भव प्रपंच में पड़े जीव को देव ! तुम्हीं से मिला किनारा।
हे अभेद द्रष्टा ! परिव्राजक ! शुभकर्मी ! हे विज्ञानी।
सतत् श्रमी गंगा प्रवाहवत् तत्वनिष्ठ श्रद्धेय अमानी।
विनम्रता सौम्यता सरलता प्रतिनिधि गुरुता के दानी।
पाते रहे प्रकाश तुम्हीं से कितने चिर तम वेष्ठित प्रानी।
भ्रष्टाचारोन्मुख समाज को सदाचार का दिया सहारा।
तुमको हमने राजभवन में सादर आमंत्रित हो जाते देखा।
अपनी योग शक्ति से सबके संशय विकट मिटाते देखा।
विश्वयोग सम्मेलन में योग शिरोमणि से अलंकृत देखा।
महामहिम ज्ञानी जैलसिंह ने विश्व वन्दनीय परमयोगी देखा।
कहीं अश्रु से गीली पलकें स्वामिन ! तुम्हें सुख से देखा।
जो कि तुम्हें करना था उसे न कभी देर लगाते देखा।
तुमने उसको अपनाया जिसको सब ने ही दुत्कारा।
हे परमार्थ निकेतन, सृष्टा ! अज्ञानता को दूर भगाते देखा।
हे मुमुक्षु के आश्रय दाता ! रहे परखते विषम पीर तुम।
कर्म ज्ञान, भक्ति के सम्मिश्रण वन्दनीय निर्दोष नीर तुम।
देते रहे प्रकाश चतुर्दिक सदा तिमिर का हृदय चीर तुम।
देखा सभी शिष्यों ने तुम में दिव्य प्रेम की अविरल धारा।

आज की परिस्थितियों में लोकसंग्रह

– डा. जे.एन. राय, टेकमा –

योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को कर्मबंधनकारी न होने के संदर्भ में निष्काम कर्म, यज्ञ कर्म और लोकसंग्रह हेतु कर्म करने का उपदेश देते है ताकि साधक में फलासक्ति न हो। गीता में यज्ञकर्म का अर्थ ईश्वर–प्रत्यर्थ है अर्थात् ईश्वर समर्पित बुद्धि से कर्म होना चाहिये। लोकसंग्रह हेतु कर्म के परिप्रेक्ष्य मे श्रीकृष्ण भगवान अपने उपदेश में स्पष्ट करते है–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात् जनक आदि कर्म के द्वारा ही सिद्धावस्था को प्राप्त हुये है। लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म ही करने के योग्य हो। श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है वही अन्य यानि साधारण जन भी करते है। वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार वर्तन करते है।

उपरोक्त श्लोक में लोकसंग्रह का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे उपयोग किया गया है। 'संग्रह' का अर्थ होता है इकट्ठा करना। तो लोकसंग्रह का अर्थ हुआ लोगों को इकट्ठा करना, अपने साथ सबको ले चलना। लोक रक्षण मात्र उपदेश से नहीं होता, उपदेश के अनुरूप आचरण भी होना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से अनासक्त होकर कर्म करने की प्रेरणा दी और कहा कि जनक आदि अनासक्त होकर कर्म करते थे और कर्म से ही उन्हें सिद्धि मिली।

गीता के अध्याय 3 के बीसवें श्लोक के उत्तरार्ध से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। कर्म करने का एक दूसरा कारण प्रदर्शित किया जाता है। इससे पूर्व भगवान कह चुके हैं कि जगत की रक्षा के लिए यज्ञचक्र आवश्यक है, इसलिए कर्म करना चाहिये। ऐसा यज्ञार्थ कर्म मनुष्य के लिए बन्धन कारक नहीं होगा। अब यहाँ भगवान् कहते है कि लोकसंग्रह को देखते हुए भी मनुष्य को कर्म करना चाहिये। ऐसा कर्म भी उसके लिए बन्धन का हेतु नही बनता। 'लोकसंग्रहम एव अपि' में जो अपि (भी) शब्द है, वह प्रकरण का विभाजन सूचित करता है। 'अपि' शब्द दो अर्थो को ध्वनित करता है। एक तो यज्ञचक्र

के सन्दर्भ में अर्थात् जैसे यज्ञादि कर्म करना चाहिये। वैसे ही लोक संग्रह के लिए भी कर्म करना चाहिये दूसरा ज्ञान के संदर्भ में है। भले ही साधक ज्ञानलाभ करके आत्माराम बन जाये, भले ही उसे अपने लिए कर्म करने की कोई बाध्यता नहीं है, तथापि लोकसंग्रह के लिए उसे अवश्य कर्म करना चाहिये। 21 वें श्लोक में लोकसंग्रह के संदर्भ में यही तर्क दिया गया है। समाज में श्रेष्ठ लोग जिस प्रकार का आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसे प्रमाणित करते हैं, लोग उसी के अनुरूप चलते हैं। इसलिए श्रेष्ठजनों को बड़ी सावधानी से आचरण करना चाहिये। यहाँ तक श्रीकृष्ण भगवान स्वयं अपने को दिखाकर अर्जुन से गीता के अध्याय 3 के श्लोक 22, 23 एवं 24 में कहते हैं कि मुझे इस जगत में कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो भी मैं अनवरत कर्म में लगा हूँ। क्यों? लोकसंग्रह के लिए।

आज की परिस्थिति ने लोकसंग्रह की भावना नष्ट हो गयी है। सत्ता में व्यक्ति आ तो जाता है, पद पर राजनीतिक दाँवपेंच के कारण पहुँच जाता है, पर पद की मर्यादा करना सीखा ही नहीं, इसलिए वह अपने पद को भी कलंकित करता है, साथ ही समाज में अपने कदाचार का विष भी बिखेर देता है। श्रेष्ठ स्थान पर बैठ जाने से ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता है बल्कि जिसमें वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान है और आचरण भी, वही श्रेष्ठ है। सर्वत्र त्याग और चरित्र गठन की बात स्टेज पर सुनी जाती है किन्तु त्याग और चरित्र कहीं दिखायी नहीं देता। इसलिए नीचे के व्यक्ति भी शीर्षस्थ व्यक्ति से आने वाले विष से विषाक्त हो जाते हैं। आज समाज और देश की यही दशा है। ऐसे लोग विरले ही हैं, जिन्हें समाज में मर्यादा स्थापित करने की चिन्ता हो, जो स्वयं अपने आचरण का आदर्श लोगों के समक्ष रखकर लोकसंग्रह की भावना से युक्त हों। जो कुछ ऐसे इनेगिने लोग हैं, उन्हीं के पुण्य के बल पर आज समाज टिका है। कुछ मर्यादा बनी हुई है। आज के परिवार में पिता सिगरेट पीता है, पर चाहता है कि लड़का सिगरेट न पिये। स्वयं तो वह थियेटर–सिनेमा जाता है, पर चाहता है कि लड़का सिनेमा न जाये। यह क्या सम्भव है? पुत्र तो पिता एवं अन्य गुरुजनों का ही अनुकरण करता है। बच्चों को सिखाने के लिए उनके समान बनना परमावश्यक है। जब कोई पुण्यजन आते हैं तो बच्चों को उन्हें प्रणाम करने की सीख दी जाती है।

अतः यहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण यही कहते हैं कि अर्जुन! भले ही तुझे अपने लिए कर्म करना आवश्यक न प्रतीत होता हो, तथापि तू लोकसंग्रह के लिए कर्म कर। लोग तुझसे सीखें कि धर्म की रक्षा के लिए युद्ध कैसे किया जाता है। भले ही सम्बन्धी और मित्रजन शत्रु का पक्ष लेकर युद्धभूमि पर खड़े हैं, तथापि विश्व को दिखा दे कि अधर्म का साथ देने वाले लोग अधर्म के समान दण्डनीय हैं। ❑❑❑

मंत्रों का लय में गाना जीवन बदल सकता है

दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर

मंत्रों का लय में गाने का महत्व क्या है? तार्किक मनो मे मंत्रों के प्रति समस्या रहती है। तार्किक मन पूछता है 'एक साधारण आवाज मुझको क्या कर सकती है?' सभी मंत्र उच्चतर स्वतंत्रता के स्तर के नहीं है। कई मंत्र है जिन्हे भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। अथवा नकारात्मकता को दूर करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। दिन प्रतिदिन के मामलों को मंत्रों से प्रभावशाली ढंग से सुलझाया जा सकता है। बहुत ही कम मंत्र आध्यात्मिक उन्नति की ओर हमें ले जा सकते है। यदि कोई मंत्र ईश्वर या धर्म तुम्हारे लालच, भाग्य या बन्धन का समर्थन करता है तो यह किसी महत्व का नहीं होगा। तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति मंत्र से हो जायेगी, क्योंकि तुम अपने मंत्र से पड़ोसी को नष्ट कर सकते हो अथवा मनोवांछित फल व धन प्राप्त कर लोगे।

कुछ लोग मंत्र प्रयोग करने वालों का परिहास क्यों करते हैं?

एक यज्ञ योगी अपने स्वभाव को प्रदर्शित करने के लिए अपनी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करता है। यद्यपि यज्ञ योगी हर एक दूसरी प्रणालियों से पूर्ण घृणा करता है, क्योंकि वे इसे बेवकूफी समझते है। वे भक्तों पर हँसते है, वे क्रिया योगियों और कर्म योगियों की मजाक उड़ाते है।

एक बार एक यज्ञ योगी शिवजी के पास गया और कहा 'आपके सभी भक्त मंत्र दोहराते रहते है। यदि आप उनकी आध्यात्मिक उन्नति कराना चाहते है तो उन्हें ऐसी चेतना दें कि दूरस्थ देख सकें। लेकिन मंत्रों को लय में गाने से वे कहाँ जायेंगे? आप उनसे इस अभ्यास को बन्द करने के लिए क्यों नहीं कहते?

फर्श पर रेंगते हुए एक कीड़े की ओर इशारा करते हुए भगवान शिव ने कहा – 'आप उस कीड़े के पास जाइये और 'शिव शंभो' मंत्र का उच्चारण कीजिये।' यज्ञ योगी ने घृणा से अपने कंधे सिकोड़े और कीड़े के पास गया। लेकिन जैसे ही उसने 'शिव शंभो' मंत्र उच्चारित किया तो वह कीड़ा तुरन्त मर गया। यज्ञ योगी को बहुत सदमा पहुँचा। उसने कहा 'यह क्या? मैंने तो केवल मंत्र का उच्चारण भर किया और यह कीड़ा मर गया। शिवजी मुस्कराये और फिर एक तितली की ओर इशारा करते हुए कहा 'उस तितली पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए 'शिव शंभो' कहिये।' यज्ञ योगी ने कहा कि 'नहीं, मैं तितली को मारना नहीं चाहता।' शिवजी ने कहा 'कोशिश कीजियेगा'। यज्ञ योगी ने तितली की ओर देखा और 'शिव शंभो' उच्चारित किया। तितली भी मर गयी।

यज्ञ योगी अचंभित हुआ और कहा 'यदि मंत्र यही मारक कार्य करता है तो कोई इस मंत्र को क्यों बोलेगा?' शिव मुस्कराते रहे और [illegible] करते एक हिरण की ओर इशारा करते

हुए कहा 'उस हिरण पर अपना ध्यान केन्द्रित कीजिये और 'शिव शंभो' मंत्र का उच्चारण कीजिये।' यज्ञ योगी ने कहा कि नहीं, मैं इस मोहक हिरण को मारना नहीं चाहता।' शिव ने कहा कोई बात नहीं, मंत्र का उच्चारण तो कीजिये।' इस पर यज्ञ योगी ने कहा 'शिव शंभो' और वह हिरण भी मर गया। आश्चर्यचकित होकर यज्ञ योगी ने शिव से कहा कि क्या इस मंत्र का उद्देश्य केवल प्राणियों को मारना ही है? इसके उच्चारण से हर प्राणी की मृत्यु ही हो रही है।'

इसके उपरान्त एक माँ अपने नवजात शिशु को साथ लेकर आयी और भगवान शिव से आशीर्वाद देने की याचना करने लगी। शिव ने मुस्कराते हुए यज्ञ योगी की ओर देखा और कहा कि 'आप इस बालक के लिए शिव शंभो मंत्र का उच्चारण करें।' उसने उत्तर दिया 'नहीं, मैं इस बच्चे को मारकर पाप का भागी नहीं बनना चाहता।' भगवान शिव ने कहा घबराइये मत! मंत्र का उच्चारण कीजिये।' यज्ञ योगी बड़े भारी भय और शंका के साथ बच्चे के निकट पहुँचा और 'शिव शंभो' कहा। बच्चा तत्काल बैठ गया और बोला कि 'मैं केवल एक कीड़ा था, तुमने एक मंत्र से मुझे तितली में बदल दिया। दूसरे मंत्र से मुझे हिरण में बदल दिया। अब केवल एक बार मंत्र को और बोल दीजिये, मैं देवत्व को प्राप्त करना चाहता हूँ।'

आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि सम्पूर्ण अस्तित्व ऊर्जाओं का कम्पन मात्र है। जहाँ कम्पन है, वहीं आवाज है। योग में हम कहते हैं कि सम्पूर्ण अस्तित्व आवाज ही है। इसे ही नाद ब्रह्म कहा गया है। मुख्य पेचीदी आवाजों को मंत्र कहा गया है। कहा भी है –

1. मंत्र, तीर्थ, द्विजे, देवज्ञे, यादृशी भावना सिद्धि भवति तादृशी।

2. जिह्वा में अमृत बसै, जो कोई जाने बोल।
विष वासुकी का उतरै जिह्वा के एक बोल।।

जिसमें श्रद्धा–विश्वास की कमी हो और आलस्य–प्रमाद का बाहुल्य हो वह मनुष्य आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं है। उसे दर्शन नहीं मिल सकता। यह आत्मिक सम्पदा प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य की वस्तु नहीं है। अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो अपने लिए इसकी आवश्यकता ही नहीं समझते, उन्हें ईश्वर तथा आत्मा से कोई सरोकार ही नहीं, वे भौतिक उपलब्धियों एवं सांसारिक भोगों तक ही सीमित रहते है। कुछ लोग ऐसे भी है जो इस क्षेत्र में आना तो चाहते हैं किन्तु लग लिपट कर आगे बढ़ने की क्षमता उनमें नहीं है। कुछ लोग कुछ दिनों तक तो अन्तरीय साधन में लगते है पर उनका मन उन्हें आगे बढ़ने से रोक देता है और क्षण भर में जाग्रत हुई शुभ वृत्ति छिन्न भिन्न हो जाती है तथा वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपनी पूर्वावस्था में ही पहुँच जाते हैं, फिसल जाते है। कोई भाग्यशाली महापुरुष ही गन्तव्य तक पहुँच पाते हैं और आनन्द प्राप्त करते है।

क्रिया योग का प्रथम अंग : तप

– रामेश्वर खण्डेलवाल (गंगापुर सिटी) –

महर्षि पतंजलि जी ने योग दर्शन के द्वितीय पाद 'साधन पाद' में क्रिया योग का उपदेश किया है। क्रिया योग के तीन अंग हैं – तप, स्वध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इनमें पहला अंग है 'तप'। चंचल चित्त वाले व्यक्ति जो ध्यान साधना में नहीं बैठ सकते, आसन प्राणायाम करने से घबराते हैं, ऐसे लोगों को तप करना बतलाया गया है। यानि तप करें, तपस्वी बनें।

'तपो द्वन्द्व सहनम्' – इसका अर्थ है अपने उद्‌देश्य की प्राप्ति हेतु आने वाले सभी प्रकार के द्वन्द्व, क्लेश, विपत्ति, कठिनाई आदि को सहन करना। भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी, मान–अपमान आदि द्वन्द्वों को हँसते हुए सहना। इसी का नाम तप है। तप भी योग का ही एक अंग है। इसके बिना योग सिद्ध नही होता। हर व्यक्ति के जीवन में अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियां आती रहती हैं। यदि व्यक्ति योग में आरूढ़ होना चाहता है, तो उसे 'तप' को अपनाना पड़ेगा। बिना तप किये कोई तपस्वी नहीं बन सकता। आने वाली इन परिस्थितियों को जीवन का एक अंग समझकर ही वह सहन करे। इनके भोगों को हमें भोगना ही है। चाहे हँस कर भोगें चाहे रोकर। अपने मन के भाव बदलते ही ये भोग हमारे लिए योग बन सकते हैं।

यह तप मनुष्य का कल्याण करने वाला है। यही तप धीरे–धीरे आगे चलकर मनुष्य में समाधि की भावनाओं को उत्पन्न करता है। फिर उसके क्लेशों को, विपत्तियों को दूर करता है। इनको अपनाये बिना साधक योगमार्ग में प्रगति नहीं कर सकता। तप के बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। राग–द्वेष आदि क्लेशों की वासनाओं से युक्त नाना प्रकार के विषयों से होने वाली चित्त की अशुद्धि, मलिनता बिना तप के दूर नहीं होती। काम, क्रोध, लोभ मोह आदि वृत्तियों ने मानव के मन को गंदा कर रखा है। कर्तव्य पथ से भ्रष्ट कर रखा है। ऐसे व्यक्ति को तप को अपनाना ही पड़ेगा। तप से मानव दानव बनने से बच सकता है।

मनुष्य का जन्म ही पूर्व जन्मों के कर्मफल भोगने के लिए होता है। साथ ही परमात्मा ने विशेष कृपा करके इस मनुष्य योनि से ही अपना उद्धार करने की व्यवस्था भी की है। जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा हमें मनुष्य योनि से ही मिल सकता है। लेकिन हम उस परमात्मा को भूल कर संसार के भोगों में लिप्त हो गये। हम अपने असली मकसद को भूल कर इन्द्रिय सुख में डूब गये। इन्द्रियों के साथ मिलकर उल्टे–सीधे कर्म करने में

व्यस्त हो गये। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये – इस पर अपनी बुद्धि का इस्तेमाल नहीं करते। ऐसे कर्म करने से जो उनका भोग सामने आता है तो वो ही हमें परेशानी, कठिनाइयाँ दु:ख, क्लेश आदि के रूप में आता है। ये सब हमारा ही कमाया हुआ पाप कर्म का दु:खरूपी फल है। किसको दोष दोगे, अनजाने में परमात्मा को दोष देते हैं कि भगवान ने यह अच्छा नहीं किया। इसमें भगवान का दोष नहीं ; स्वयं तेरा ही दोष है। जब काँटे का बबूल बोयेगा तो आम की आशा क्यों? फिर रोता क्यों है? तेरा किया तुझे मिल रहा है तो भोग इसे।

कहने का तात्पर्य है कि इन सबके जिम्मेदार हम स्वयं है। तो उनको भी हमें हँसते हुए सहन करना है। सद्गुरुदेव से प्रार्थना करो कि ऐसी परिस्थिति को सहन करने के लिए हमें शक्ति दो। गुरुदेव भगवान हमारी सहायता अवश्य करेंगे। ऐसे समय में इन परिस्थितियों से लाभ लो, अपने मन के भावों को बदलते हुए भगवान का प्रसाद समझकर प्रसन्नता से स्वीकार करो तो सही भोग 'तप' बन जायेगा और आगे चलकर हमें तपस्वी बना देगा। किसी ने हमसे बुरा–भला कहा तो उस समय को हँसकर टाल दो, उसका कोई पलटवार मत करो तो वही हमारा 'तप' हो गया। यह परिस्थिति व्यक्ति के धैर्य की, उसकी सहन शक्ति की परीक्षा होती है और जो इस परीक्षा में पास हो गया वह ही योग का अधिकारी हो गया। जैसे अग्नि में तपकर सोने में और भी ज्यादा निखार आ जाता है, ऐसे ही व्यक्ति इन कठिन परिस्थितियों से गुजर कर ही अपने व्यक्तित्व को निखारता है।

'तप कई प्रकार के होते है। **शारीरिक तप**– जो शरीर के द्वारा भोगा जाता है। जैसे गर्मी–सर्दी, बीमारी, परिश्रम, जरा–व्याधि आदि कई तरह की परेशानियाँ होती हैं। **मानसिक तप**–जो मन से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे–मान–अपमान, अच्छे–बुरे विचार, किसी ने बुरा कह दिया हमें बहुत दु:ख होता है। उसके प्रति बुरे विचार पैदा हो जाते है, उससे बदला लेने की सोच शुरु हो जाती है। लेकिन ऐसे वक्त में हमें अपने मन पर काबू रखना है। बुरा करने वाले के प्रति बुरा करने की नहीं सोचना –ये ही मन का तप है। **वाणी का तप**– किसी से बुरा न कहे। अच्छे वचन मुँह से निकाले। भगवान नाम का स्मरण करते रहे। गीता, रामायण का पाठ करें ये सब वाणी का तप है। **कानों का तप**– अच्छा सुने, गन्दी बातें न सुने। भगवान का कीर्तन–भजन, सन्तों का प्रवचन सुने। **आंखों का तप**– बुरा न देखें, गन्दे, अश्लील दृश्य न देखें। संतों के सिद्ध पुरुष के मंदिर में भगवान के दर्शन करें। मुख का तप– गन्दी वस्तु नहीं खाना, कठोर या बुरे वचन नहीं बोलना हमेशा सत्य वचन मधुर वचन या भगवद् वाणी ही मुंह से निकले। सात्विक आहार का सेवन करना। **इन्द्रियों का तप** – अपनी इन्द्रियों को वश में रखना क्योंकि ये ही हमें नरक

या स्वर्ग देने वाली है। ये हमें बार–बार जन्म–मरण के चक्र में डालने वाली हैं।

परमात्मा प्राप्ति के उद्देश्य से साधन करने वाला साधक अपना अपकार या अनिष्ट करने वाले को भी क्षमा कर देते हैं। इस तरह के सात्विक विचारों को अन्दर पैदा करें। अपने परम पूज्य गुरुदेव द्वारा बताये मार्ग पर चले। क्योंकि हमारा असल उद्देश्य उस परमात्मा से मिलना है जिससे बिछुड़े हमें कई जन्म बीत गये। वो परमात्मा हमें तब ही मिलेगा जब हम योग साधना मार्ग जो हमें गुरुदेव भगवान ने बताया है उसको अपने जीवन में उतारेंगे। योग साधन मार्ग पर चलने के लिये हमें इनके यम, नियमों का पूर्ण रूपेण पालन करना है। तब हम योग के साधक बनने लायक बनेंगे। इन सब के बिना योग सिद्ध नहीं होगा। ☐☐☐

गुरु चरणों में जिसकी उमंग है !

गुरु चरणों में जिसकी उमंग है,
उसकी रग–रग में योग तरंग है।।
आपा धापी से दामन बचाके
निर्मल हृदय से गुरु गुण गा के
जो उसकी रजा में रजामन्द है उसकी——
जो जबां से मधु रस घोले
कथनी करनी को मन से तोले
प्रेम ही जिसकी पसन्द है उसकी——
चर्चा सकामी जिसको ना सुहावे
केवल सत्संग ही मन को भावे
गुरु कीर्तन ही जिसकी सुगन्ध है उसकी——
देख दुखियों को दुखी होवे मन से
बन कर सेवक भला करे तन से
जिसमें यश अपयश की ना सुरंग है उसकी ——
भोर उठ के जो गुरु गुण गावे
ध्यान धारणा से समाधी लगावे
उस पर गुरु कृपा सदा अनन्त है जिसकी——
बन्धन जन्म–जन्म का मिट जाए
आवागमन से वो मुक्ति पाए

जगदीश राए बंसल ''अधम''
गोहाना

योगसाधना हेतु उचित शारीरिक स्थिति (आसन)

– डॉ. राजकुमारी त्रिखा (नई दिल्ली) –

उपर्युक्त विधि से आसन बिछा कर उस पर बैठकर योगसाधना प्रारम्भ करनी चाहिए। महाभारत तथा अन्य योगसम्बन्धी ग्रन्थों में साधना में उपयोगी शारीरिक स्थिति का भी वर्णन किया गया है। द्रोणपर्व में द्रोणवध के प्रसङ्ग में कहा गया है कि गुरु द्रोण ने अपने प्रियपुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर रणभूमि में ही समाधि लगाकर प्राण त्याग दिये। उस समय द्रोणाचार्य की शारीरिक स्थिति का वर्णन करते हुए महाभारतकार कहते हैं– उन्होंने मुंह को कुछ ऊंचा उठाकर वक्षस्थल को आगे की ओर धारण करके व विशुद्ध सत्त्व में स्थित होकर नेत्र बन्द कर लिये। फिर हृदय में धारणा द्वारा मन को एकाग्र किया ....(तथा प्राण त्याग दिये)।

इस प्रकार मुख को कुछ ऊंचा उठाने तथा वक्ष स्थल को आगे की ओर धारण करने से मेरुदण्ड स्वयमेव सीधा हो जाता है जिससे मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। सामान्य नियमानुसार दृढतापूर्वक बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन व सिर को सीधा रखना चाहिए। भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को योगविधि समझाते हुए कहते है– शरीर, ग्रीवा व सिर को सीधा रख कर, स्थिरता-पूर्वक बैठकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि एकाग्र करो। अन्य किसी भी दिशा में न देखो...... दृढतापूर्वक बैठकर मेरा चिन्तन करो। ....अनुशासनपर्व में उमा-महेश्वरसम्वाद में भी लगभग इसी भाव की पुनरावृत्ति पाई जाती है। भगवान महेश्वर कहते है–उस (कुशा के) आसन पर बैठकर अपने शरीर व गरदन को सीधा रखना चाहिए। सुखपूर्वक बैठकर अपने अङ्गों को मत हिलाओ डुलाओ। अपनी नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखो, अन्य किसी ओर मत देखो।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है, कि योगसाधक को मेरुदण्ड, ग्रीवा व सिर को बिल्कुल सीधा रख कर दृढतापूर्वक व सुख पूर्वक बैठकर ध्यानाभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार सीधे बैठने का वैज्ञानिक कारण है। स्थिर व सीधा बैठने से मेरुदण्ड के भीतर होकर जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी में प्राणवायु का प्रवेश सरलतापूर्वक हो जाता है, जिससे योगसाधना में अपेक्षाकृत तीव्रगति से प्रगति होती है। इस दृष्टि से पद्मासन व स्वस्तिकासन उपयोगी आसन हैं। इनमें मेरुदण्ड सीधा रहने के कारण साधक पर निद्रा का आक्रमण होने की सम्भावना घट जाती है, तथा चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है।

आजकल प्रचलित विपश्यना नामक बौद्ध साधना पद्धति में भी मेरुदण्ड सीधा रखने का निर्देश किया जाता है। इस साधना के साधकों का अनुभव है कि सीधे बैठने से मन शीघ्र एकाग्र होता है, तथा साधना में शीघ्र प्रगति होती है।

आधुनिक काल में कुछ योगाचार्य शवासन में भी योगसाधना (ध्यान) करने की शिक्षा

देते हैं। परन्तु इस प्रकार लेट कर साधना करने से साधक को निद्रा आ घेरती है। अतः प्रारम्भिक साधकों के लिये साधना की दृष्टि से शवासन अधिक उपयोगी आसन नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पद्मासन, सिद्धासन व स्वस्तिकासन ही इस दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी आसन हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को साधना हेतु उचित स्थान का चयन करके, उसे स्वच्छ करके, वहाँ शास्त्रनिर्दिष्ट कुशादि का आसन बिछाना चाहिए। फिर सन्ध्याकाल में शुद्ध होकर आसन पर सीधा बैठकर साधना का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रनिर्दिष्ट विधि–विधानपूर्वक साधना करने से साधना में प्रगति होती है।

योगसाधना विधि

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपयुक्त स्थान में, विहितकाल में तथा शास्त्रनिर्दिष्ट आसन (बिस्तर) पर निश्चल व सीधा बैठकर अपने इष्ट देवता अथवा अन्य किसी भी ध्येय विषय का एकाग्र मन से चिन्तन करना ही योगसाधना की सामान्य विधि है। परन्तु मन को किसी एक लक्ष्य पर अधिक समय तक एकाग्र करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। प्रारम्भ में तो मन ध्येय विषय पर क्षण भर को एकाग्र हो जाता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् ध्येय विषय सम्बन्धित विचार श्रृंखलाओं में भटक जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी ने अपने इष्टदेव राम पर मन एकाग्र करना चाहा तो, मन में स्वतः ही सीता से सम्बन्धित विचार आने लगते हैं। फिर सीताहरण का प्रसंग, तथा रावण का विचार मन में आ जाता है– रावण कितना दुष्ट व पापी था, परस्त्री पर मोहित था। आजकल तो कितने रावण हो गये हैं। अपने पड़ौसी को ही देखो। पराई स्त्रियों को कैसे देखता रहता है......... और इस प्रकार ध्यान प्रक्रिया राम से प्रारम्भ होकर रावण और अन्त में अपने चरित्रहीन पड़ौसी तक पहुंच जाती है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–यह मन अत्यन्त चञ्चल है। इसकी गति का नियन्त्रण करना, वायु के बहाव को रोकने के समान है।

ऐसी ही स्थिति में मन को नियंत्रित करने के उद्देश्य से शास्त्रों में कहा गया है– मन तथा प्राण एक दूसरे के सहचर हैं। जहाँ मन जाता है, वहीं प्राण भी जाते हैं, तथा जहाँ प्राण जाते हैं, वहीं मन भी जाता है। अतः मन की एकाग्रता अर्जित करने के दो उपाय हैं।

1. मन के नियन्त्रणपूर्वक साधना

2. प्राणों के नियन्त्रण पूर्वक साधना अर्थात् प्राणायाम

1. मन के नियन्त्रणपूर्वक साधना–

महाभारत में योगसाधना सम्बन्धी इन दोनों विधियों का विधान किया गया है। वसिष्ठ मुनि कहते हैं– योगियों का प्रधान कर्तव्य ध्यान है। वही उनका परम बल है। योगविद्यानिष्णात विद्वान उस ध्यान को दो प्रकार का कहते हैं– एक तो मन की एकाग्रता और दूसरा है प्राणायाम। फिर भी महाभारत में मन के नियन्त्रणपूर्वक साधना प्रणाली को प्रधानता दी गई है, तथा

अनेकशः इसकी चर्चा की गई है, श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– साधक संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को पूर्णतया त्यागकर, भली प्रकार से व सभी ओर से मन के द्वार नियन्त्रित करके, शनैः शनैः विषयों से उपरत हो जाये, अर्थात् विषयों का चिन्तन न करे। तत्पश्चात्–धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को आत्मा में स्थापित करे, तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय पर विचार न करे। साधक का यह चञ्चल तथा अस्थिर मन जिस–जिस विषय की ओर जाये, तब–तब मन को उन विषयों की ओर से रोककर परमात्मा की ओर ही ले जाये।

इस साधनापद्धति में सर्वप्रथम इन्द्रियों व मन को स्थिर करना मुख्य कार्य है। यदि इन्द्रियाँ स्थिर नहीं हुई, तो ध्यान से उपलब्ध शक्ति चञ्चल इन्द्रियों के मार्ग से व्यर्थ हो जायेगी। अतः शुकदेव मुनि को उपदेश देते हुए महामुनि व्यास कहते हैं– जैसे मशक में एक स्थान पर भी छिद्र हो, तो वहीं से सम्पूर्ण जल बह जाता है, उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिययुक्त जीवात्मा की यदि एक इन्द्रिय भी छिद्रयुक्त (दोषयुक्त) हुई अर्थात् विषयाभिमुख हुई, तो उसी इन्द्रिय द्वार से उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है।

जैसे– मछेरा जाल काटने वाली दुष्ट मछली को सर्वप्रथम पकड़ता है, उसी प्रकार योगवेत्ता साधक सर्वप्रथम अपने मन का नियन्त्रण करे। तत्पश्चात क्रमशः कान, नेत्र, जिह्वा व नासिका का निग्रह करे। यत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियों को वश में करके मन में स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पों का त्याग करके मन को बुद्धि में लीन करे। जब मन सहित ये पाँचों इन्द्रियाँ बुद्धि में स्थिर होकर प्रसन्न हो जाती हैं, तब उस योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

अतः प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों व मन को वश में रखना चाहिए। तभी ध्यानाभ्यास परिपक्व होगा। इसी सन्दर्भ में व्यासमुनि कहते हैं– जैसे द्रव्य का इच्छुक व्यक्ति द्रव्यराशि को कोठे में एकत्रित करके रखता है, उसी प्रकार साधक इन्द्रिय–समूह को वश में करके नित्य आत्मतत्त्व का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करे। योगसाधना से मन को उद्विग्न न होने दे।

वस्तुतः मन तथा इन्द्रियों का एक लक्ष्य पर एकाग्र होना ध्यानमार्ग की दिशा में प्रथम सोपान है। चंचल मन यदि क्षण भर को एकाग्र हो जाये तो अगले ही क्षण पुनः चञ्चल हो जाता है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर को योग का उपदेश देते हुए कहते हैं–प्रारम्भ में एकाग्र करने पर साधक का मन कुछ देर को ध्यानमार्ग में स्थिर रहता है, परन्तु फिर वायुमार्ग (नाड़ियों) में पहुँचकर भ्रान्त सा होकर वायु के समान चञ्चल हो जाता है। अतः ध्यानयोग के ज्ञाता का कर्तव्य है कि वह योगसाधना में रुचि बनाये रखे। मन में क्लेश अथवा खिन्नता न आने दे। आलस्य व ईर्ष्या का त्याग करके पुनः सावधानीपूर्वक मन को एकाग्र करे।

जिस प्रकार धूलि, भस्म व सूखे गोबर के चूर्ण की ढेरियों पर जल का छिड़काव किया जाए, तो वह उतनी नहीं भीगती कि उनसे मूर्ति आदि बनाने जैसा कोई अभीष्ट कार्य किया जा सके। क्योंकि सूखा चूर्ण भिगोने पर थोड़ा सा ही भीगता है, पूर्णतया नहीं भीगता। परन्तु क्रम से

धीरे–धीरे भिगोने पर पूर्णतः गीला हो जाता है, तथा मूर्ति आदि बनाने के काम में लाया जा सकता है। इसी प्रकार धीरे–धीरे विषयोन्मुख इन्द्रियसमूह को विषयों की ओर से रोक कर, ध्येय विषय पर चित्त को एकाग्र करो। इस प्रकार धीरे–धीरे चित्त शान्त हो जायेगा।

स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा

योगमार्ग में प्रवृत्त साधकों का योग की उच्च भूमियों में प्रवेश हेतु निर्देश दिया गया है– इन्द्रियों को वश में करके उन्हें मन में स्थिर करना चाहिए। मन को अहङ्कार में, अहङ्कार को बुद्धि में तथा बुद्धि को प्रकृति में स्थापित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधक की योगयात्रा स्थूल इन्द्रियों के नियन्त्रण से प्रारम्भ होकर क्रमशः सूक्ष्म व सूक्ष्मतर तत्त्वों की ओर अग्रसर होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है व बुद्धि से परमतत्त्व सूक्ष्म है। साधक की स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा का भी यही क्रम है। इन्द्रियों को मन में लीन करना चाहिए, मन को बुद्धि में, बुद्धि को जीवात्मा में, तथा जीवात्मा को परमात्मा में लीन करना चाहिए। शान्तिपर्व में एक स्थल पर कहा गया है–वाणी (उपलक्षण से सभी इन्द्रियाँ) तथा मन को बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करके, विवेकरूपी नेत्र द्वारा बुद्धि का शमन करो। विवेक ज्ञान का आत्मज्ञान से शमन करो, व आत्मा को परमात्मा में लीन करो।

महाभारत में इस ध्यानक्रम का अनेक बार अनुमोदन किया गया है। ऋषि याज्ञवल्क्य वसिष्ठ को उपदेश देते हुए कहते है– शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध, इन पाँच इन्द्रिय दोषों को दूर करके, लय व विक्षेप को शान्त करके, सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन में स्थिर करो। तत्पश्चात् मन को अहङ्कार में, अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को प्रकृति में स्थापित करो। इस प्रकार सबका लय करके योगी केवल परमात्मा का ध्यान करता है।

इससे सिद्ध होता है कि महाभारत काल में योगसाधना एक महत्त्वपूर्ण साधनाविधि समझी जाती थी। यह मोक्षदायक अनेक साधनों में से एक समादृत साधनाविधि थी। अन्य चिन्तनधाराओं (जैसे पाशुपतयोग सात्त्वतधर्म, वैष्णवधर्म) के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिये उन्हें योगतुल्य कहा जाता था। किसी भी कार्य को विलक्षणरूप में सम्पन्न करने के लिये योग एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता था। समाज के प्रबुद्धवर्ग योगाभ्यास करते थे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तक योगाभ्यास करते हुए वर्णित किये गये हैं। इन सभी तथ्यों के आधार पर हम कह सकते है कि महाभारत काल में योग एक बहु प्रचलित व प्रतिष्ठित साधनाविधि थी।

❑❑❑

आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति आध्यात्मिक जगत की सर्वोच्च एवं परम उपलब्धि है। इससे बढ़कर अन्य कोई परम पद नहीं है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता आत्मनिष्ठ संत की उपस्थिति मात्र से धरती धन्य हो जाती है।

दुखों की गुलामी कब तक ?

राजेश कुमार श्रीवास्तव 'राजू'

गुरुदेव कह रहे हैं। हे जीव ! हे वत्स ! अब तू निज शिव स्वभाव की ओर आजा। अब तू प्रगति कर। ऊपर उठ। कब तक प्रकृति, जन्म मृत्यु और दुःखों की गुलामी करता रहेगा?

गुरुपूर्णिमा का यह उत्सव उत्थान के लिए आयोजित किया गया है। तू विलम्ब किये बिना इस उत्सव में आकर अत्यन्त आनन्दपूर्वक भाग ले। आ जा ...आ जा.....तू तेरे अपने सिंहासन पर आकर बैठ जा। साधक कोई डरपोक सियार या गरीब बकरी नहीं है। साधक तो सिंह है, सिंह ! आध्यात्मिक सत्संग में उमंगपूर्वक आने वाले साधक के लिए गुरु का हृदय ही सिंहासन है। उस सिंहासन पर तू आरूढ़ हो। तू अपनी महिमा में आ जा। अपने आत्मभाव में......

वत्स ! तू तेरे उत्कृष्ट जीवन में ऊपर उठता जा। प्रगति के सोपान एक के बाद एक तय करता जा। दृढ़ निश्चय कर कि अब अपना जीवन दिव्यता की ओर लाऊँगा। लघु को गुरु बना देना, छोटे को बड़ा बना देना, वामन को विराट बना देना, जीव को शिव के साथ एकाकार कर देना – यही गुरुपूर्णिमा का उद्देश्य है।

दया के सागर, कृपासिन्धु वेदव्यास जी को हम नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं। ब्रह्म सद्गुरुओं को हम व्यास कहते हैं। उन्होंने मानव जाति का हित करने के लिए ऐश–आराम, खान–पान सबका त्याग करके जीवनदाता के साथ एकत्व साधा और जीवन के सभी पहलुओं को देख लिया। उन्होंने जीवन का उज्ज्वल पक्ष भी देखा और इन दोनों को सत्ता देने वाले भावातीत, गुणातीत तत्व का भी साक्षात्कार किया। ऐसे आत्मज्ञानी महापुरुष गुरुपूर्णिमा का उत्सव हमारे लिए आयोजित करते हैं, इस पर्व को हम मनाते हैं।

दूसरे उत्सव तो हम मनाते हैं किन्तु गुरुपूर्णिमा का पर्व हमें हमारे उत्कर्ष के लिए मनाता है।

गुरुदेव कहते हैं : हे बन्धु ! हे साधक ! तू कब तक संसार के गन्दे खेलों को खेलता रहेगा ? कब तक इन्द्रियों की गुलामी करता रहेगा? कब तक तू इस संसार का बोझ वहन करता रहेगा? कब तक अपने अनमोल जीवन को मेरे–तेरे के कचरे में नष्ट करता रहेगा? जाग...जाग...जाग अब तो जाग....अहंकार को लगा दे आग और निज स्वरूप में जाग.....लगा दे विषय विकारों को आग और निज स्वरूप में जाग। लगा दे जीवत्व को आग और शिव स्वरूप में जाग।

तू अभी जहाँ है वहीं से प्रगति कर। उठ, ऊपर उठ। जैसे वायुयान पृथ्वी को छोड़कर गगन में गमन करता है, ऐसे ही तू तन से देहाध्यास छोड़कर ब्रह्मानन्द के विराट गगन में प्रवेश करता जा। ऊपर उठता जा। विशालता की तरफ आगे बढ़ता जा।

अरे ! कब तक इन जंजीरों में जकड़ा रहेगा? जंजीर लोहे की हो या ताँबे की या फिर भले सोने की हो, परन्तु जंजीर तो जंजीर ही है। स्वतंत्रता से वंचित रखने वाली पराधीनता की बेड़ी ही

है। हे वत्स ! दीन–हीन बनकर कब तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहेगा? गुलाम को स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता। कल्पनाओं की जंजीरें खींचने से न टूटती हो तो ओउम् की शक्तिशाली गदा मारकर इन्हें तोड़ डाल। ॐ.....ॐ....ॐ........

अब जन्म–मरण के चक्कर को काट डाल। चौरासी लाख शीर्षासनों की परम्परा को तोड़ दे। तुझमें अगाध बल है, अगाध शक्ति है, अगाध वेग है, अगाध सामर्थ्य है। ॐ....ॐ.....ऊपर उठता जा, आगे बढ़ता जा।

गुरु तत्व की सत्ता में निमग्न होने वाले साधक, सत्शिष्य के अन्दर गुरुवाणी का गुंजन होने लगा। अंदर से गुरुवाणी का प्रकाश प्रकट होने लगा और गुरु ने प्रेरणा दी कि 'हे वत्स ! तू जाग, जाग। सब चिंताओं एवं शंकाओं को छोड़ दे। इसलिए तो तुझे यह अत्यंत दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है।

हे वत्स ! आ जा। मेरे राज्य में प्रेमपूर्वक पधार। मेरे इस विशाल साम्राज्य में तेरा स्नेहपूर्ण स्वागत है। मोक्ष के मार्ग पर चल। मुक्ति के धाम में आ पहुँच। आ जा स्वतंत्रता के साम्राज्य में।'

यह सचमुच में पावन उत्सव है, सुहावना उत्सव है, हमारे परम् कल्याण का सामर्थ्य रखने वाला उत्सव है। अन्य देवी देवताओं का पूजन करने के बाद भी कोई पूजा बाकी रह जाती है, किन्तु उन आत्मारामी महापुरुष की पूजा के बाद फिर कोई पूजा बाकी नहीं रह जाती।

हरिहर आदिक जगत में पूज्य देव जो कोय।
सद्गुरु की पूजा किये सबकी पूजा होय।।

दुनियाँभर के काम करने के बाद भी कई काम करने बाकी रह जाते हैं। सदियों तक भी वे पूरे नहीं होते। किन्तु जो ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु द्वारा बताया काम उत्साह से करता है, उसके सब काम पूरे हो जाते हैं।

श्रुति भगवती कहती है :–

स्नातं तेन सर्वं तीर्थं दातं तेन सर्वं दानम्।
कृतं तेन सर्वं यज्ञं येन क्षणं मनः ब्रह्मविचारेस्थिरं कृतं।।

जिसने एक क्षण के लिए भी ब्रह्मवेत्ताओं के अनुभव में अपने मन को लगा दिया, उसने सब तीर्थों में स्नान कर लिया, सब दान दे दिये, सब यज्ञ कर लिए, सब पितरों का तर्पण कर लिया।

❑❑❑

साधक को जो काम कर्तव्य रूप में प्राप्त हो, उसे भगवान् का काम समझकर उत्साहपूर्वक, उसमें विवेक, स्नेह और शक्ति को भलीभाँति लगाकर कुशलता के साथ करना चाहिये। आलस्य या अवहेलना से अथवा उतावलेपन से नहीं करना चाहिये।

गुरुभक्ति एवं परोपकार

अंशुमानदेव मालवीय
वाराणसी

ज्ञान विज्ञान मुक्तिश्च, लभ्यते गुरु भक्तितः।
गुरोः समंतत्तो नान्यत, साध्योऽसौ गुरुमार्गिणा।।

अर्थः गुरु की भक्ति से ज्ञान विज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है इसलिए गुरु के समान अन्य कोई नही है। गुरु मार्ग के अवलम्बन करने वाले को गुरु ही साध्य है।

मनुष्य यदि अपने इस जीवन में लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो उसे गुरु की शरण लेनी होगी। बिना गुरु के ज्ञान सम्भव नही तथा ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए गुरु से बड़ा कोई तत्व नही है।

न गुरोरधिकं तत्वं, न गुरोरधिकं तपः।
गुरुज्ञानात्परं तत्वं तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अर्थात् गुरु से अधिक तत्व नही है, न गुरु से अधिक तप है, गुरु से परम तत्व का ज्ञान होता है। उन श्री गुरुदेव को नमस्कार है।

जिस मनुष्य को गुरु मिल जाते है उसके जीवन की सब खोज पूरी हो जाती है। उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है, उसे भगवत प्राप्ति हो जाती है। परन्तु गुरु की खोज करना तथा अपनी नीयत को ठीक रखकर परोपकार की भावना रखने वाले तथा दूसरो के हितों का ध्यान देने वाले मनुष्य के जीवन में सदगुरु की कृपा अवश्य होती है। एक ऐसी घटना का वर्णन करना उचित होगा।

एक भिलनी महिला थी, जिसका नाम शबरी था। शबरी अपनी परोपकार की भावना से मतंग ऋषि के आश्रम से सरोवर जाने वाले मार्ग को जिससे मतंग ऋषि प्रतिदिन स्नान करने जाते थे, उसे प्रतिदिन साफ करती थी। एक दिन मतंग ऋषि के मन में सवाल उठा कि आखिर ऐसा कौन है जो मेरे जाने वाले मार्ग को साफ करता है। तब उन्होंने रास्ते में तेज ध्वनि में पूछा कि आखिर कौन है जो प्रतिदिन इस मार्ग को साफ करता है। तब भी कोई उत्तर नहीं मिला। तब ऋषि मतंग ने बहुत तेज ध्वनि से पूछा कि आखिर कौन है जो प्रतिदिन इस मार्ग को साफ रखता है। ध्वनि इतनी तेज थी कि चारों तरफ गूँजने लगी। तभी शबरी डरते हुए पौधों के बीच से निकली और काँपते हुए बोली गुरुवर ! मैं एक भिलनी महिला हूँ मैं ही इस मार्ग को प्रतिदिन साफ करती हूँ।

मतंग ऋषि उसके परोपकार की भावना को देख कर उसे अपने आश्रम ले आये और शबरी मतंग ऋषि के आश्रम में ही रहकर ऋषि मतंग की सेवा करने लगी और ऋषि मतंग ने उसकी सेवा भावना को देखकर उसको भगवद्प्राप्ति का आशीर्वाद दिया और उसका

फलस्वरूप यह हुआ कि भगवान राम तथा लक्ष्मण जी शबरी के आश्रम गये तथा शबरी के झूठे बेर खाये। यह सौभाग्य शबरी को अपनी गुरुभक्ति से तथा उसके परोपकार की भावना की वजह से मिला।

आज इस घोर कलियुग में जहां लोग अपने स्वार्थ्य को ज्यादा अहमियत देते हैं, इसमें परोपकार की भावना तथा दूसरे के हित के लिए कोई स्थान नहीं है, उसके फलस्वरूप उनके जीवन में शांति नहीं मिलती और अपने मुख्य लक्ष्य से वे पीछे हो जाते हैं।

इसलिए हमें दूसरों का हित, परोपकार तथा सद्गुरुदेव भगवान की सेवा सदैव करना चाहिये। फल हमें सदैव ही अच्छा ही मिलेगा और सद्गुरुदेव भगवान के बताये सन्मार्ग पर चलना तथा सद्गुरु का आरती पूजन एवं कृपाचरित्रों का श्रवण सदैव करना चाहिये। ❑❑❑

क्या परमात्मा पक्षपाती है?

– स्वामी विवेकानन्द –

यह सृष्टि किसने की? ईश्वर ने। अंग्रेजी में 'गॉड' शब्द का जो प्रचलित अर्थ है, उससे मेरा मतलब नहीं। निश्चय ही उस अर्थ में नहीं, बल्कि उससे काफी भिन्न अर्थ में प्रयोग का मेरा अभिप्राय है। अंग्रेजी में और कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। संस्कृत 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग करना ही सबसे अधिक युक्तिसंगत है। यही इस जगत–प्रपंच का सामान्य कारण है। ब्रह्म क्या है? वह नित्य, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ, परम दयामय, सर्वव्यापी, निराकार, अखंड है। वह इस जगत की सृष्टि करता है। अब यदि कहें कि यही ब्रह्म संसार का नित्य स्रष्टा और विधाता है, तो इसमें दो आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं। हम देखते हैं कि जगत् में पक्षपात है। एक मनुष्य जन्मसुखी है, तो दूसरा जन्मदुःखी; एक धनी है तो दूसरा गरीब। इससे पक्षपात प्रतीत होता है। फिर यहाँ निष्ठुरता भी है, क्योंकि यहाँ एक जीवन दूसरे के मृत्यु के ऊपर निर्भर करता है। एक प्राणी दूसरे को टुकड़े–टुकड़े कर डालता है और हर एक मनुष्य अपने भाई का गला दबाने की चेष्टा करता है। यह प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, घोर अत्याचार और दिन रात की आह, जिसे सुनकर कलेजा फट जाता है– यही हमारे संसार का हाल है। यदि यही ईश्वर की सृष्टि हुई तो वह ईश्वर निष्ठुर से भी बदतर है, उस शैतान से भी गया–गुजरा है, जिसकी मनुष्य ने कभी कल्पना की हो। वेदान्त कहता है कि यह ईश्वर का दोष नहीं है जो जगत् में यह पक्षपात, यह प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान है। तो किसने इसकी सृष्टि की? स्वयं हमीं ने। एक बादल सभी खेतों पर समान रूप से पानी बरसाता रहता है। पर जो खेत अच्छी तरह जोता हुआ है वही इस वर्षा से लाभ उठाता है। एक दूसरा खेत जो जोता नहीं गया, या जिसकी देखरेख नहीं की गयी, उससे लाभ नहीं उठा सकता। यह बादल का दोष नहीं। ईश्वर की कृपा नित्य और अपरिवर्तनीय है, हमीं लोग वैषम्य के कारण हैं। लेकिन कोई जन्म से ही सुखी है और दूसरा दुखी, इस वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? वे तो ऐसा कुछ नहीं करते जिससे यह वैषम्य उत्पन्न हो। उत्तर यह है कि इस जन्म में न सही, पूर्व जन्म में उन्होंने अवश्य किया होगा, और यह वैषम्य पूर्व जन्म के कर्मों ही के कारण हुआ है।

स्वास्थ्य चर्चा

भवरोग मुक्ति का उपाय – तत्वज्ञान

–आचार्य (डा.) उमाकान्त –

स्वरूप की विस्मृति होने के कारण वासना के वशीभूत हुआ जीव भीषण असाध्य रोगों का क्रीड़ा स्थल बना हुआ है। सद्वैद्य के अभाव में वह दैहिक, दैविक एवं भौतिक रोगों से मुक्ति नहीं पाता। स्वयं के अविचार से वह दुःखी है। आचार्य शंकर के शब्दों में 'बिना विचार किये जिस–किसी साधन को पकड़ लेने का फल मुक्ति से वंचित रहना और अनर्थ की प्राप्ति है। अतएव वास्तविक सुख की प्राप्ति हेतु उत्तम साधन की खोज करनी चाहिये और वह साधन है 'तत्व ज्ञान'। योग वाशिष्ठ में वसिष्ठ जी पथभ्रष्ट जीव का मार्ग दर्शन करते हुए तत्वज्ञान को ही उत्तम साधन बताते हुए कहते हैं – 'तत्वज्ञान की प्राप्ति की इच्छा सबके लिए अत्यन्त आवश्यक है, जिससे फिर कभी जन्म–मरण आदि दुःखों की प्राप्ति न हो। क्योंकि वासना का क्षय, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और मनोनाश – इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदस्वरूप फल देते हैं।'

श्री वसिष्ठजी दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि 'अध्यात्म विद्या की प्राप्ति, साधुसंगति, वासना का सर्वथा परित्याग और प्राण स्पंदन का निरोध – ये युक्तियाँ चित्तरूपी संसार पर विजय पाने एवं सुखी होने के लिए निश्चित ही दृढ़ उपाय हैं।' जिस पुरुष की बुद्धि संसार वासनावश देह और इन्द्रिय के द्वारा भोगने योग्य अयोग्य वस्तु – विषभोग में आसक्त होती है तथा जिसके मन में कभी मोक्ष की आकांक्षा नहीं जाग्रत होती, वह मन्दबुद्धि मनुष्य मनुष्य नहीं प्रत्युत कुत्ता अथवा कीड़ा है। अतः सत्पुरुषों के साथ शास्त्र चिंतन करने से जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, उसे तत्व का बोध हो जाने से सर्वव्यापक आत्मा का स्वरूप विदित हो जाता है। वह समझ जाता है कि भवरोग से छुटकारा पाने के लिए आत्मज्ञान (तत्वज्ञान) ही यथेष्ट औषधि है। क्योंकि आत्मा के ज्ञान से भव–बन्धन नष्ट हो जाते हैं। और विज्ञ पुरुष परम विद्यारूपी नौका से भय जनक – प्रखर वेगवाहिनी सांसारिक दुर्वासना निचयादि रूप नदियों को पार कर लेता है। आत्मज्ञानी शोक सागर से पार हो जाता है। उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु का उल्लंघन किया जा सकता है, मुक्ति प्राप्ति का अन्य मार्ग नहीं है। क्योंकि निर्मल आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जो लौकिक दुःख और सुख से रहित अक्षय परमानन्दरूपता होती है वही मोक्ष है। परमानन्दरूपता शरीर के रहने या न रहने पर भी समानरूप से उपलब्ध होती है।

वास्तव में सृष्टि नाम से कुछ भी नहीं है, शास्त्रों में जो कुछ सृष्टि का वर्णन आया है वह अद्वैत तत्व को बोधगम्य कराने के लिए ही है। जिस नाम रूपात्मक विचित्र संसार को हम देखते हैं, वह परमात्मा का विलासस्वरूप है। विष्णुपुराण (2/16/23) एवं श्रीमद्‌भागवत (11/2/41) में भी इसी की पुष्टि की गयी है। उस चैतन्यस्वरूप परमात्मा ने अपने को अनेक रूपों में देखने की इच्छा की इसी से जगत् की उत्पत्ति हुई।

जिस प्रकार समुद्र में जलराशि का स्फुरण होने पर ही उसमें भंवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध चिदाकाश का अपने सत्य संकल्प के अनुसार जो स्फुरण है, वही जगत् है।

प्रभु के संकल्प से ही इस जगत् का निर्माण हुआ है तथा संकल्प शून्यता से ही इसे नष्ट किया जा सकता है। परमात्म चैतन्य में, समुद्र में जलराशि की भाँति वस्तुतः चिदात्मक जगद्भावों का जो अकस्मात् भान होता है उसे मनीषी संकल्प कहते हैं। अहम् भावना (आत्मा को देह मान लेना) ही कल्पना है तथा आत्मा को आकाश के समान अपरिमित, अनन्त और व्यापक जानकर परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का निरंतर चिन्तन करना तत्वज्ञ पुरुषों के मत में कल्पना या संकल्प का त्याग कहलाता है।

श्रीमद्भागवत में नारद जी ने धर्मराज को बताया है कि संकल्पों के परित्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभ को और तत्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिये। संकल्प के क्षय हो जाने पर जब चित्त गलित हो जाता है तब संसार की भ्रान्ति भावना नष्ट हो जाती है। अर्थात् देह, इन्द्रिय और प्राणों के साथ जो आत्मभ्रान्ति है, जिससे जगत् सत्य प्रतीत होता है वह नष्ट हो जाती है।

भगवान् शंकराचार्य जी महाराज मन को ही सारे अनर्थों की जड़ मानते हुए कहते हैं – 'जगत् को किसने जीता? जिसने मन को जीता।' तभी तो कहा गया है कि हाथों से हाथों को मसलकर और दाँतों से दाँतों को पीसकर अंगों के पराक्रम द्वारा मन को जीतना चाहिये। मन को जीतकर ही संसार पर विजय प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि मन ही बन्धन और मोक्ष का हेतु है। अतः मन से ही मन का पाशरूप बन्धन काटकर संसार से आत्मा को तारा जा सकता है और किसी के द्वारा वह तारा नहीं जा सकता।

'दृश्य प्रपंच है ही नहीं' – इस भावना से जब चित्त सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उस समान स्वरूप चैतन्य की सबमें समान भाव से व्यापक स्वतः सिद्ध सत्ता ही सत्ता–सामान्य–अवस्था होती है। ब्रह्म में मन स्वाभाविक ही रहता है, पर जैसे तरंग में तरंगबुद्धि करने से वह तरंग भाव में प्रतीत होती है और तरंग में जलबुद्धि करने से उसमें सामान्य जल बुद्धि होती है, ऐसा पुरुष जल और तरंग के भेद से विमुक्त निर्विकल्प कहा जाता है; वैसे ही मन मन–भावना करने से वह मनरूप में परिणित हो संसार के निर्माण और दुःख का कारण होता है, पर मन की ब्रह्म भावना करने से वह सर्वत्र ब्रह्म दर्शन की क्षमता प्रदान करता है और ऐसा पुरुष निर्विकल्प हो जाता है।

सब भूतों में एक ही आत्मा है। वह ज्ञानी को एक रूप में तथा अज्ञानी को जल में प्रतिबिम्ब चन्द्रमा की भाँति अनेक रूपों में दिखाई देता है। इस प्रकार एक ही आत्मा अस्ति–भाति–प्रतिरूप सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वही पिण्डोपाधि से रहित होने से आत्मा तथा ब्रह्माण्डोपाधि से रहित होने से 'ब्रह्म' शब्द से व्यवहृत है। जिस प्रकार घटाकाश और महाकाश में घट की उपाधि ही रुकावट है और उपाधि के नष्ट होने पर घटाकाश तथा महाकाश की एकता हो जाती है, उसी प्रकार सर्वात्मभाव की जागृति होने पर सब कुछ ब्रह्म

ही हो जाता है। इससे साधक को सदा, सर्वत्र, सब नामरूपों में भगवद्‌दर्शन–सा आत्मदर्शन होने लगते हैं।

सम्प्रति, तरल होने के कारण जिस प्रकार जल ही अपने में आवर्त रूप से प्रतीत होता है उसी प्रकार चित्तरूप होने के कारण आत्मा ही जगत्–सा प्रतीत होता है। जगत् इससे भिन्न कुछ भी नही है। समस्त एषणाओं की शान्ति हो जाने पर विशुद्ध चित्–पुरुष की जो स्थिति है, उसी को सत्य आत्म तत्व कहा गया है और उसी को निर्मल चैतन्य कहते हैं। विशुद्ध तत्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर इस सम्पूर्ण विश्व का अपने आप में और अपने आप का सारे विश्व में अनुभव करना सुलभ हो जाता है तथा भव–रोगों से सुगमतापूर्वक छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

देखूँ जिधर......

आर.बी. श्रीवास्तव, 'चन्द्रानंद' (ग्वालियर)

देखूँ जिधर, तुम आते नजर, नजारा हो तो ऐसा हो।
मुझे तुम मिल गए, गुरुवर, सहारा हो तो ऐसा हो।।
हुई बड़ी कृपा, ये भगवन की, नर तन हमने जो पाया है।
मगर भूले, हम वचन अपना, न सिर चरणों में नवाया है।।
हमसे हुआ अपराध ये भारी, गुजारा हो तो कैसा हो।
देखूँ जिधर, तुम आये नजर, नजारा हो तो ऐसा हो।।
बिगड़ी फिर भी बना डाली, गुरुदेव श्री चंद्रमोहन दाता ने।
मिली है शरण हमें उनकी, अति कृपा की है विधाता ने।।
डूबेगी न अब नैया, किनारा हो तो ऐसा हो।
देखूँ जिधर, तुम आते नजर, नजारा हो तो ऐसा हो।।
दिखाया जो ठिकाना है, उसे अब हम न छोड़ेंगे।
सवाई धाम है अपना, ये नाता, अब न तोड़ेंगे।।
प्रभु जी से, बँधी डोरी, प्यारा हो तो ऐसा हो।
देखूँ जिधर, तुम आते नजर, नजारा हो तो ऐसा हो।।
'चन्द्रानंद' पर की है कृपा, निज चरणों में बिठाया है।
जीवन–तत्व–साधन और, ध्यान व जप सिखाया है।।
अब ये, हीरा बना जीवन, तुम्हारा हो तो कैसा हो।
देखूँ जिधर, तुम आते नजर, नजारा हो तो ऐसा हो।।
मुझे तुम मिल गए गुरुवर, सहारा हो तो ऐसा हो।।

महाप्रभुजी ने मेरी सुनी, वे आपकी भी सुनेंगे

प्रेषक–सुधीर कुमार कुलश्रेष्ठ (आगरा)

घटना अधिक पुरानी नहीं है। वैसे तो मैं सन् 1982 से सँवाई आश्रम को सड़क से गुजरते देखता रहा हूँ तब मैं बी.ए. का छात्र हुआ करता था और अपनी बहिन की ससुराल (बरहन) जाया करता था। उस समय हमारे अंग्रेजी के प्राध्यापक डा. आर.पी. गुप्ता, एस.आर.के. कालेज, फिरोजाबाद द्वारा एक पुस्तक लिखी गई थी जिसमें प्रभु श्रीरामलाल जी, परम गुरुजी एवं टाटवाले बाबा के बारे में कुछ जानकारियां प्रकाशित हुई थीं। उस पुस्तक को पढ़ने के बाद मेरी जिज्ञासा बढ़ गई और मैं सँवाई आश्रम की ओर श्रद्धा भाव रखने लगा। पूज्य गुरुदेव को पत्राचार भी करने लगा, वहाँ से शंका समाधान भी प्राप्त होने लगे। मेरा विश्वास बढ़ा और मैं जब भी अपनी बहिन के घर मिलने जाता तो सँवाई आश्रम के दर्शन जरूर करता लेकिन वहाँ किसी से संपर्क नहीं हो पाया। हाँ जब सन् 1986–87 में फिरोजाबाद में श्री नन्नूमल जू. हा. स्कूल स्टेशन रोड पर पूज्य महाराजश्री का योग प्रचार कार्यक्रम हुआ तब मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मिला।

मैं सँवाई आश्रम और सिद्धगुफा के चमत्कार से तो परिचित था किन्तु कभी अपने लिए कुछ मांगा नहीं था। बाल मन में ऐसी इच्छा हुई कि चलो सिद्धगुफा की परीक्षा करूँ लोग सत्य कहते हैं या असत्य। ऐसा सोचकर मैं सितम्बर 06 में आश्रम गया, प्रवेश द्वार पर एक साधक बन्धु द्विवेदी से भेंट हुई। उनसे ज्ञात हुआ कि आचार्य डा. रामलाल जी अपने कक्ष में हैं और आगन्तुकों से भेंट भी कर रहे हैं। मैंने अपने मन में सोचा कि शायद इतने बड़े सत्पुरुष मुझसे बात करेंगे भी या नहीं, यह सोच ही रहा था कि पूज्य आचार्य जी के कक्ष से एक सज्जन निकले। उन्हें मैंने अपनी बात बताई कि मैं पूज्य आचार्य जी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने मुझे पूज्य आचार्यश्री से मिलवाया। मैं बहुत डर रहा था किन्तु आप की सरल सरस भाषा शैली सुन कर मेरा सारा डर निकल गया और मैं लगभग पौन घंटा विभिन्न सम–सामयिक विषयों पर बात करता रहा। बहुत सी शंकाओं का समाधान मिला। प्रसाद लेकर प्रणाम करके जब मैं गुफा के पास आया तो मैंने अपने मन की कामना मन ही मन प्रकट कर दी और साथ ही यह भी जोड़ा कि मेरा काम इसी वर्ष 2006 तक हो जाएगा तब मैं यहाँ का चमत्कार सत्य मानूँगा। ऐसी धृष्टतापूर्ण प्रार्थना श्री पूज्य महाप्रभुजी ने सुनी और दि. 4 दिस. 2006 को मेरा काम हो गया यानि मेरी सेवा स्थाई हो गयी। (मैं विषय विशेषज्ञ शिक्षक के रूप में कार्यरत था अब प्रभुजी की कृपा से उसी विद्यालय में एल.टी. ग्रेड में स्थाई शिक्षक हूँ।)

मैं और मेरा परिवार वहाँ से नतमस्तक हो गए। मैंने (प्रसाद स्वरूप) अपने एक माह के वेतन खर्च कर दिया, गुरु भाइयों का सम्मान कराया, पूज्य आचार्यश्री एवं टोली को आगरा

आमंत्रित किया। वे पधारे और हमें आशीर्वाद दिया। इस आयोजन में श्री अनिल जी शर्मा ने मेरा बहुत हाथ बटाया अन्यथा मुझ जैसा अल्पज्ञ व्यक्ति कुछ नहीं कर पाता।

श्री परम प्रभु ने मुझे ऐसा सहारा प्रदान किया कि नीरस जीवन में बहार आ गई। उनकी कृपा जैसी हमें मिली आप सब को भी मिले।

❑❑❑

प्रकृति का उपहार

झीलें सजी कमल पुष्पों से।
रंगों से मन के आगार।।
पुष्प सुगन्धों से महकी है।
अमराई की द्वार।।
तन से हम नव रूप हुये।
मन से हुये अगाध।।
वर्षा से हो–हो गया।
पल्लवित आंगन का आकाश।।
प्रकृति ने मुस्करा कर छुआ।
हँस कर खिले गुलाब।।
महकी–महकी डालियाँ।
हर्षित हुये पलाश।।
चांदी सी चमकी चांदनी।
सूर्य समाया आकाश।।
रंग सुरस सा छाने लगा।
बढ़ता रहा मन का विश्वास।।

नयनों के पंखों ने ले ली।
मौसम की रंगीन उड़ान।।
कभी उड़े आकाश में।
कभी चढ़े पहाड़।।
ऐसी सुन्दर प्रकृति बनी।
कुछ ऐसा संयोग।।
क्षण भर में सब छा गया।
आनन्दित हो उठे लोग।।
सिद्धयोग है सिद्धि के दाता।
योग योगेश्वर है अन्तर मन।।
''अनन्तश्री'' के अनुराग से।
भर गये तन मन धन।।
भर गये तन मन धन।।

निर्मला चन्देल
उदयपुर (राजस्थान)

योग मार्ग के विघ्न

– कमलकान्त त्रिवेदी –

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायातिन्ति वै बलात्।

'समाधिकाल में विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं।' योगी को चाहिये कि उन विघ्नों का धीरे-धीरे त्याग करे। भगवान पतंजलि ने योगदर्शन में कहा है –

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। (समाधिपाद 30)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व – यह नौ चित्त के विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बात को योगमार्ग में प्रवेश करने के पहले जानना आवश्यक है।

शरीर धारण करने में समर्थ होने के कारण धातु नाम को प्राप्त हुए वात, पित्त और कफ की न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थों के परिणामस्वरूप रस की न्यूनाधिकता और मन सहित एकादश इन्द्रियों के बल की न्यूनाधिकता को व्याधि अथवा रोग कहते हैं। व्याधि होने पर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करने के उपायों में लगी रहती है। इससे वह योग में प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी कारण व्याधि की गणना योग के विघ्नों में होती है।

अजीर्ण, नींद की खुमारी, अति परिश्रम प्रभृति से ब्रह्माकार वृत्ति का अभाव हो जाता है। अजीर्ण आदि लय के कारण रूप विघ्नों के निवारण करने के लिए पथ्य और लघु भोजन करने से और प्रत्येक व्यवहार में युक्ति तथा नियम के अनुसार चलने से एवं उत्थान के प्रयत्न द्वारा चित्त को जाग्रत करने से वह विघ्न दूर होते हैं। इस विषय में श्रीकृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन के प्रति कहा है –

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

'जो अधिक भोजन करता है, जो बिल्कुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिए हे अर्जुन योग नहीं है।' बल्कि –

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा॥

'जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करने में भी नियमपूर्वक रहता है, जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक होता है, उसके लिए योग दुःख का नाश

करने वाला होता है।'

योग साधन की इच्छा होने पर देशकालादि की विपरीतता की कल्पना करके योग साधन की प्रवृत्ति में जो चित्त की असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं। देश कालादि की कल्पित विपरीतता को दूर करने में सामर्थ्यरहित चित्त की वह अयोग्यता भी योग में प्रवृत्त होने नहीं देती। इसलिए यह भी योग में विघ्नरूप है।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकार की है? इस प्रकार का परस्पर विरोधी और उभयकोटि को विषय करने वाला विज्ञान संशय कहलाता है। 'योग होता है या नहीं?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योग साधन की जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य।' 'योग का फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ?' 'ईश्वर प्रणिधान से समाधि लाभ तथा कैवल्य प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं?' – इस प्रकार के अनेकों विरोधी तथा उभयकोटि के विषय करने वाले ज्ञान को संशयरूप समझना चाहिये। इस प्रकार के संशय मनुष्य को कभी भी योग में निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते। अतः ये योग के प्रबल विरोधी हैं। अतद्रूप प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूप में स्थिर न होने से संशय और अस्पर्शरूप अवान्तर भेद कहने की इच्छा से ही उनका भेद कहा जाता है। इसलिये संशय का नाश कर भ्रान्तिदर्शन में भी श्रीसद्गुरु के वचन और शास्त्र प्रमाण में श्रद्धा रखनी चाहिये।

समाधि साधन में प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता परखना प्रमाद कहलाता है। कफादि के द्वारा शरीर के भारी होने तथा तमोगुण के द्वारा चित्त के भारी होने से भी योग–साधन में प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

प्रमाद और आलस्य, ये दोनों समाधि योगसाधन में साधक की प्रवृत्ति नहीं होने देते। इसलिये ये दोनों योग में विघ्न रूप हैं।

विषय के समीप रहने से विषय–स्थित दोषों के अत्यन्त विस्मरण के द्वारा विषय भोग की चित्त में जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय–तृष्णा योग की प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्ति को अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समय में ही विषयों के स्फुरण द्वारा चित्त को क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। विषय–तृष्णा में दोषदृष्टि करने से यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डू में विष डाला गया है – यह बात जान लेने पर भूखा भी उसके खाने की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रों का अध्ययन और सद्गुरु के उपदेश के द्वारा विषयों में दोषदृष्टि होने पर उनके भोगने की इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट योगसाधन में असाधनत्वबुद्धि को भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीतज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्ति के कारण साधक को योग में प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योग के विघ्नों में होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओं में किसी भी भूमिका का अभ्यास करते रहने पर भी

किसी कारण से उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधक के चित्त को असन्तोष के द्वारा बहिर्मुख रखने के कारण योग में विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योग की भूमिकाओं में किसी भूमिका की प्राप्ति होने पर भी विस्मय अथवा कर्तव्य के विस्मरण या अज्ञान के द्वारा उसमें चित्त को सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योग की किसी भूमिका के प्राप्त होने पर, इसी से भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारण से ऐसा मान लिया जाय और उससे आगे की सुस्थिरता के लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिका की प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिका से भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिका में अपने चित्त को सुस्थिर करने के लिये साधक को प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करने से उस भूमिका में चित्त की अस्थिरता रहती है, और वह भी योग में प्रतिबन्धक होती है।

चित्त को विक्षिप्त करने वाले ये नौ कारण योग के विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योग की विरोधिनी हैं। और व्याधि आदि वृत्ति न होने पर भी वृत्तियों के साहचर्य से योग में बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योग के विघ्न नहीं हैं। बल्कि चित्त के विक्षेप करने वाले इन विघ्नों के साथ दु:खादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतंजलि उनका भी नाश करने के लिये कहते हैं–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधि० 32)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होने वाले दु:खादि की निवृत्ति के लिये एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठ में भी कहा है।

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।।

'जबतक एक तत्व के दृढ़ अभ्यास से मन को पूर्णरूप से जीत नहीं लिया जाता तबतक अर्द्धरात्रि में नृत्य करने वाले वेतालों के समान वासनाएँ हृदय में नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगी के समाधि में विघ्नरूप से आते हैं; अतएव उनको हटाने का धीरे–धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषय का एक दृष्टान्त है। एक चरवाहे को रखवाली करने के लिये दी हुई एक बछिया जंगल में भटकती है और भटकने की आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलाने का लालच देकर उसे लोग घर ले आते है। पर उसको भटकना छोड़कर घर पर रहना अच्छा नहीं लगता, और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़ कर लायी जाती है। ऐसा करते–करते जब वह ब्याती है तब अपने बछड़े के प्रेमपाश में ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठी से मारकर बाहर निकालने पर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसारूपी जंगल में भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होने पर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करने का प्रयत्न हो।।

है, तथा ध्यानादि क्रियाओं के द्वारा उसे रसरूपी भोजन प्राप्त होता है। तथापि भटकने की आदत होने के कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परन्तु बुद्धि को जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है तब उसके प्रेम में निमग्न होकर वह कितने भी दुःखरूपी प्रहार से घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषों को निवृत्तकर निरोधप्रयत्न के द्वारा निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलता से विषयाभिमुख होकर बाहर जाये तो उसे फिर निरोधप्रयत्न से ब्रह्म में लगावे। इस प्रकार ब्रह्म में एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार वृत्ति का अनुभव नहीं करता तथा रस का भी आस्वादन नहीं करता। वह निवात प्रदेश में दीपशिखा के समान अचल होकर किसी भी विषय के आकार को न धारणकर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्विक होने पर ब्रह्म का अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है इसलिये योगाभ्यास करने वाले को इन सब विघ्नों के दूर करने के लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' श्रेयस्कर कार्य में अनेकों विघ्न आते है, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करने वाले उपकरणों में लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये, क्योंकि वे बलपूर्वक फँसाते है।

□□□

भौतिक भोग के इस युग में योग का अवलम्बन ही करेगा आपका कल्याण

उत्तम और सफल जीवन की एकमात्र विश्वसनीय कुंजी है योग !

योग-पथ पर बढ़ने हेतु सिद्धयोग की शरण लीजिए

सिद्धयोग

पढ़िये-पढ़ाइये !

योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक-पत्र

योग की प्रचीनता

– विधुशेखर–

इस बात को बतलाने की अब किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि जब से द्रव्य यज्ञों के स्थान पर ज्ञान यज्ञों का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ तब से ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों आदि सभी लोगों के लिए योगसाधना स्वाभाविक ही आवश्यक हो गयी, क्योंकि बिना योग के ज्ञान यज्ञ कोई चीज नही है। इसीलिए इन सभी लोगों के धर्मग्रन्थ जिनमें वे ग्रन्थ भी शामिल है जो अपौरुषेय माने जाते है, अर्थात् किसी मनुष्य के बनाये हुए नहीं माने जाते, योगचर्या से भरे है। इस प्रसंग मे इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि इस योग साधना का जन्म इस देश में ही हुआ अथवा भारतवासियों ने किसी अन्य देश के लोगों से इसे सीखा।

एक विद्वान का मत है कि वैदिक काल के उपासक महान् आशावादी थे। वे इस लोक मे धन–धान्य और दीर्घायु के अभिलाषुक थे और परलोक में पितृलोक के सुख की कामना किया करते थे। अतः प्राणायाम के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना, जो योग का एक आवश्यक अंग है, उन लोगों की प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। वैदिक काल के आर्य लोग कतिपय अर्द्धसभ्य जातियों के सम्पर्क में आकर उन्हें समुन्नत बनाने की चेष्टा कर रहे थे। उन्हीं से इन्होंने शरीर को मूर्ति के समान अचल बनाने की क्रिया सीखी।

परन्तु उपर्युक्त विद्वान की यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऋग्वेद मे ही कुछ ऐसे मुनियों का वर्णन आता है जो दिगम्बर वेश में रहते थे। तथा मटमैले पीले रंग के वस्त्र पहनते थे। यही नहीं अन्यत्र उनके मौनेय का भी वर्णन मिलता है। उक्त स्थलों मे निःसंदेह योगियों का ही उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार यह बात अनुमान से ठीक मालूम होती है कि ऋग्वेद के काल मे योग साधना का प्रचार था और यह साधना भारतीय आर्यों की विशेष सम्पत्ति थी। परन्तु कुछ विद्वान जो मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त हुए प्राचीन ध्वंसावशेषों के आधार पर सिन्धु प्रदेश की संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं, उनका मत है कि वैदिक काल के आर्यों ने सिन्धु प्रदेश के अनार्य निवासियों से इस विद्या को सीखा, वे अपने मत की पुष्टि मे प्रमाण यह देते है कि सिन्धु प्रदेश की सभ्यता वैदिक सभ्यता से बहुत पहले की है।

परन्तु यह तो उनकी कल्पनामात्र है, क्योंकि अभी तक यह संतोषप्रद रीति से सिद्ध नहीं हुई है कि सिन्धु प्रदेश की सभ्यता वैदिक सभ्यता की अपेक्षा प्राचीन है। सिन्धु प्रदेश की सभ्यता का काल ईसवी सन् से तीन–चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है और ऋग्वेद, कुछ लोगों के मत में, ईसा मसीह से 2500 वर्ष पहले का माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान यह सिद्ध करने की चेष्टा मे है कि ऋग्वेद ईसा मसीह से करीब 4500 वर्ष पुराना है। इस विषय का विस्तार न बढ़ाकर हम इतनी बात दावे के साथ कह सकते है कि वैदिक साहित्य का विकास ईसा मसीह से कम–से–कम 2500 वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हुआ होगा, इसके लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण है। ऐसी दशा मे हम ऐसा मान नहीं सकते हैं कि हमें मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा में जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह आर्य संस्कृति से पहले का है। अतः जब तक हमारे सामने कोई प्रबल प्रमाण नहीं रखे जाते तबतक हम इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि भारतीय आर्यों ने योग साधना अनार्यों से सीखी।

❑❑❑

श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग मैत्री है सेवा, योग से माया नहीं।
योग साधना के बिना कोई सुखी पाया नहीं।।

श्री चन्द्रमोहन गुरवे नमः

योगिराज अनंतश्री चन्द्रमोहनजी महाराज के पावन चरणों में सादर समर्पित

प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय

गणेश बाजार, झाँसी

Regd. No. J/135/2000

(प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद से सम्बद्ध)

द्वारा आयोजित

31 वाँ अखिल भारतीय योग सम्मेलन एवं संगीत सम्मेलन

स्थान : पैवेलियन हॉल (श्री लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर) झाँसी

दिनांक 13 से 17 नवम्बर 2007

परम करुणा निकेतन परमपूज्य भगवान योगिराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज (श्री सिद्धगुफा नवाई, आगरा) की करुणाकृपा से गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी उपरोक्त तिथियों में 31 वाँ अखिल भारतीय योग सम्मेलन श्री लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर झाँसी के पैवेलियन हॉल में आयोजित किया जा रहा है। आज योग के महत्व को सारा विश्व स्वीकार कर चुका है। अत: अपने जीवन को योगमय बनाने, जटिल रोगों से छुटकारा पाने एवं अपने आपको स्वस्थ्य रखने की कामना रखने वाले सभी जिज्ञासुओं एवं साधकों से अनुरोध है कि वे इस पाँच दिवसीय योग शिविर में भाग लेकर अपने जीवन को सफल बनायें।

योग सिद्धान्तों के गूढ़ तत्वों को सरल शब्दों में समझाने हेतु आचार्य श्री चन्द्रहास जी शर्मा (नई दिल्ली) सहित योग के अनेक उद्भट विद्वान पधार रहे हैं, जो योग की अष्टांगों, योग की साधना, पद्धति के सभी अंगों को विस्तार से समझायेंगे। इसके अतिरिक्त संकीर्तन, भजन, ध्यानाभ्यास एवं योगासनों के प्रदर्शन के कार्यक्रम प्रतिदिन सम्पन्न होंगे।

: कार्यक्रम :

आरती पूजन, गीता पाठ, संकीर्तन, ध्यानाभ्यास एवं प्रवचन

13 से 17 नवम्बर 2007 प्रात: 7 बजे से 10:30 तक, सायं 5 से 10 बजे तक

संगीत प्रतियोगिता

14 एवं 15 नवम्बर 2007 प्रात: 11 बजे से 6:30 बजे तक

पारितोषिक वितरण

15 नवम्बर 2007 सायं 9:00 बजे से

संगीत सम्मेलन

16 एवं 17 नवम्बर 2007 दोपहर 2:30 से रात्रि 9:00 बजे तक

श्री गुरुजी एवं प्रभुजी का पूजन एवं भंडारा

17 नवम्बर 2007 दोपहर 11 से सायं 2:30 बजे तक

मंगला आरती प्रात: 5 बजे, आसन व्यायाम, षेटी क्रिया प्रात: 6 से 7 बजे तक

आयोजक समिति :

अध्यक्ष : डॉ. हरिमोहन गुप्ता, उपाध्यक्ष : जनार्दन नगरिया (एड.), प्रदीप जैन (पत्रकार)

महामंत्री : इं. सीताराम गुप्ता, मंत्री : रामसेवक अग्रवाल, उपमंत्री : राकेश तिवारी

कोषाध्यक्ष : रामदास जैन, आय व्यय निरीक्षक : राकेश चौरसिया

सदस्य : नरेन्द्र गोस्वामी, रवि मोहन माथुर एवं समस्त कार्यकर्ता

संयोजक :
कृष्णकान्त झा
प्राचार्य

सह-संयोजक एवं मीडिया प्रभारी
दिनेश भार्गव

प्रभु श्रीरामलाल संगीत महाविद्यालय एवं योग सत्संग मण्डल, झाँसी।

PRINTPOINT, AGRA

[illegible]

श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र

श्री सिद्धगुफा, सवाँई (एत्मादपुर)

का

यौगिक सत्साहित्य

पुस्तक का नाम	मूल्य
1. योग सिद्धान्त, भाग-1	रु. 100.00
2. योग सिद्धान्त, भाग-2	रु. 100.00
3. मेरी दिव्यानुभूतियाँ	रु. 10.00
4. योग-रोग-योग	रु. 10.00
5. जीवन तत्त्व (बड़ा)	रु. 15.00
6. जीवन तत्त्व (छोटा)	रु. 5.00
7. ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी	रु. 10.00
8. योगिराज मुक्तराज जी	रु. 10.00
9. प्रभुजी की स्वहस्तलिखित कथायें	रु. 20.00
10. मन की एकाग्रता के साधन	रु. 7.00
11. आत्म योगी	रु. 10.00
12. योग क्यों – कैसे	रु. 7.00
13. गुरु गीता	रु. 10.00
14. योगी की अतुलित शक्ति	रु. 7.00
15. सुधा संगीत	रु. 5.00
16. योग क्या ?	रु. 5.00
17. यम-नियम	रु. 7.00
18. यौगिक षट्कर्म	रु. 5.00
19. सचित्र योगासन	रु. 20.00
20. समाधिस्थ योगिनियाँ	रु. 10.00
21. योग रामायण	रु. 20.00
22. योगेश्वर चरित्रमाला	रु. 5.00
23. सर्वसमर्थ गुरुदेव	रु. 7.00
24. अद्भुत महायोगी	रु. 10.00
25. सद्गुरु संकीर्तन भजनमाला	रु. 5.00
26. योग अमृत भजनावली	रु. 5.00
27. दीदी के भजन	रु. 5.00
28. मेरा सवाँई आगमन	रु. 7.00
29. सवाँई के चमत्कार	रु. 10.00
30. अध्यात्म भजनावली-1	रु. 5.00
31. अध्यात्म भजनावली-2	रु. 5.00
32. अध्यात्म भजनावली-3	रु. 5.00
33. अध्यात्म भजनावली-4	रु. 5.00
34. अध्यात्म भजनावली-5	रु. 5.00
35. Life Force	रु. 10.00
36. योगासन चित्रपट	रु. 10.00
37. योगासन चित्रपट (छोटा)	रु. 5.00
38. महायोगी की लोकयात्रा	रु. 100.00
39. गुरुदेव वचनामृत (तीन खण्डों में)	रु. 100.00
40. सद्गुरु कृपालीला, भाग-1	रु. 35.00
41. सद्गुरु कृपालीला, भाग-2	रु. 40.00
42. चरणोदक	रु. 10.00

उपरोक्त पुस्तकें आश्रम पर स्वयं आकर अथवा डाक द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। डाक एवं पैकिंग खर्च पाठकों को स्वयं वहन करना होगा। – व्यवस्थापक

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/06-08
OCTOBER 2007

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) की डाकघर में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना :

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक सामग्री पर स्पेस आच्छादन (स्पेस कवरेज) का विज्ञापन
2. लेटर बॉक्सों पर स्थान का आवंटन (स्पॉन्सरशिप)
3. मेल वाहनों पर स्थान का आवंटन (स्पॉन्सरशिप) दर : रु. 1200 प्रति पैनल प्रतिमाह पेंटिंग चार्ज रु. 600.00 प्रति पैनल
4. डाकघर परिसर में होर्डिंग लगाकर विज्ञापन दर रु. 1.00 प्रति वर्ग फीट प्रति माह
5. डाकघर के अन्दर या बाहर ग्लोसाइन बोर्ड अथवा पोस्टर लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति वर्ग फुट प्रति माह
6. डाकघर के कार्यों का सामान्य कैलेण्डर की ड्यूटी लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति कार्ड प्रतिदिन कार्ड का मूल्य रु. 400/-
7. मेघदूत पोस्ट कार्ड के माध्यम से विज्ञापन अर्थात् पोस्ट कार्ड के आधे भाग पर कम्पनी का विज्ञापन। दर रु. 2/- प्रति पोस्ट कार्ड। मेघदूत पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य केवल 25 पैसे मात्र।

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग विज्ञान का सांस्कृतिक उत्थान हेतु का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा